दारुदेवता

डॉ. वेणीमाधव पाढ़ी

××××××, ×××××

विषय–सूची

	आत्म–निवेदन	• • •	××
	लेखक परिचय	• • •	××
	प्रस्तावना	• • •	××
1	**पुराणों में इन्द्रद्युम्न किंवदन्ती की परम्परा**	• • •	××
2	**दारुदेवता की प्राचीनता और शबर मौलिकता**	• • •	××
3	**शबर जाति का इतिवृत्त और असुर सभ्यता**	• • •	××
4	**प्राचीन भारत में अलग–अलग सभ्यताओं का संघर्ष और समाधान**	• • •	××
5	वेद, वैदिक आर्य और दारुपूजा	• • •	××
6	**दारुदेवता पर जैन प्रभाव**	• • •	××
7	रामायण तथा उपनिषदकालीन धर्म धारणा और शबर संस्कृति	• • •	××
8	**महाभारत का गीता धर्म और कृष्ण–वासुदेव उपासना**	• • •	××
9	दारुदेवता की क्रम परिणति – जगन्नाथ	• • •	××
	परिशिष्ट	• • •	××

आत्म–निवेदन

दारुदेवता उड़िया साहित्य के खजाने का एक अनमोल रत्न है। यह वस्तुतः ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी द्वारा रचित एक वृहद शोधग्रन्थ है। भगवान जगन्नाथ उड़िया संस्कृति के सर्व–स्वीकार्य शीर्ष तत्व हैं, प्राण आधार हैं, इसमें कोई दो राय नहीं हैं। परन्तु यह लोक मान्यता कुछ दिनों, महीनों, अथवा वर्षों में स्थापित नहीं हुई है, अपितु इसमें कई हजार वर्षों का समय लगा है। इसके पीछे न जाने कितनी ही मानव सभ्यताओं का आपसी संघर्ष छिपा है, और कितने ही अमूल्य मानव जीवनों का सर्वोच्च बलिदान उसमें निहित है, यह कौन ठीक से जान सकता है। दारुदेवता इसी हजारों वर्षों की क्रमिक विकास यात्रा को लिपिबद्ध करने का एक प्रयास है।

हिन्दी भाषा के पाठकों को 'जगन्नाथ' धर्म, संस्कृति तथा इतिहास से परिचित कराने हेतू श्री श्रीनिवास उद्गाता ने वर्ष 1998 में दारुदेवता ग्रन्थ का मूल उड़िया भाषा से हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया। भारतवर्ष जैसे विशाल बहुभाषी देश में भावनात्मक एकता की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक भी है कि एक भाषा के अप्रतिम ग्रन्थों का दूसरी भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हो। एक विद्वान लेखक के विचारों को उनके मूल भाव में परिवर्तन किए बिना इस कुशलता से दूसरी भाषा में व्यक्त करना कि पाठक को ग्रन्थ के अनुदित होने का अहसास भी न हो, इसी में अनुवाद करने वाले की सफलता है और सच्चे अर्थों में यही उसका पारिश्रमिक भी है। यह कार्य निश्चित ही श्रमसाध्य एवम् चुनौतीपूर्ण है। श्री श्रीनिवास उद्गाता ने इस कठिन कार्य को जिस समर्पण और आत्मीय भाव से पूर्ण किया, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाऐ, वह कम ही होगी।

प्रथम अनुवाद के प्रकाश में आने के लगभग दो दशक पश्चात् कुछ सुधी पाठकों के निरन्तर स्नेहपूर्ण आग्रह तथा ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी के परिवार के सदस्यों की सहमति पर द्वितीय अनुवाद तैयार करने का मन बना। परन्तु पुस्तक का मुख्य आधार उसी प्रथम अनुवाद को रखने का निश्चय हुआ, जिसे श्री श्रीनिवास उद्गाता ने अत्यन्त प्रयास पूर्वक तैयार किया था। फिर यह द्वितीय अनुवाद प्रथम अनुवाद से किस प्रकार भिन्न होगा, इस पर भी सूक्ष्म चर्चा आवश्यक है। प्रथम अनुवाद मूल उड़िया ग्रन्थ की भांति ही एक शोधग्रन्थ है, जिसमें प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक वृहद संदर्भ सूची भी दी गई है। ऐसा अनुभव में आया है कि संदर्भ सूची शोधछात्रों तथा कुछ अति जिज्ञासु पाठकों के लिए तो आवश्यक है, परन्तु बहुसंख्यक पाठकों को उसकी आवश्यकता नहीं। उनके लिए तो लेखक का नाम ही स्वयं–सिद्ध प्रमाण है। फिर शोधछात्रों के लिए तो प्रथम अनुवाद इंटरनेट पर उपलब्ध है ही। प्रत्येक भाषा में शब्दों का अपना एक माधुर्य तथा शब्दों के संयोजन से रचित भावों का एक स्वाभाविक प्रवाह होता है, मानो गंगा की अविरल धारा कल–कल की मधुर ध्वनि के साथ प्रवाहित होती हो। इस कसौटी पर प्रथम अनुवाद को और बेहतर बनाने के लिए द्वितीय अनुवाद की आवश्यकता महसूस हुई।

इस कार्य में जिन विद्वजनों का सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति आभार प्रकट किए बिना यह निवेदन अपूर्ण ही होगा। जुगलदेवी सरस्वती विद्या मन्दिर, दीनदयाल नगर, कानपुर के अवकाश प्राप्त उप–प्रधानाचार्य एवम् हिन्दी और संस्कृत के शिक्षक आचार्य श्री ज्ञानेन्द्र सिंह जी ने अस्वस्थ होते हुए भी स्वयं हाथ से लिखकर ग्रन्थ का प्रथम प्रारुप तैयार किया। तदोपरान्त ड़ा० उमेश चन्द्र शर्मा ने इस पुस्तक को अंतिम स्वरुप देने का कार्य किया। जिसमें मुख्यतः तकनीकी पहलूओं यथा टंकण की अशुद्धियों, तथा शब्दों के उपयुक्त चयन एवम् संयोजन द्वारा विद्वान लेखक के विचारों के हिन्दी भाषा में धारा प्रवाह प्रकटीकरण पर ध्यान केन्द्रित किया गया। बहुमुखी प्रतिभा के धनी ड़ा० उमेश चन्द्र शर्मा कानपुर विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग संस्थान में कैमिकल इंजीनियरिंग विभाग में पिछले 21 वर्षों से अध्यापनरत हैं। आप दोनों विद्वजनों के सहयोग के लिए आपको कोटि–कोटि आभार।

बहुत सम्भव है कि हमारे सर्वश्रेष्ठ प्रयासों के बाद भी अज्ञानतावश या अनजाने में पुस्तक में कुछ त्रुटियॉ रह गई हों। सुधी पाठकों से आग्रह है कि यदि वे इन त्रुटियों को हमारे संज्ञान में लाते हैं, तो हम निश्चित ही अगले प्रकाशन में इन्हें सुधार सकेंगे। अंत में ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी की मधुर स्मृतियों को नमन करते हुए उनकी यह पुस्तक 'दारुदेवता' भगवान दारुदेवता को ही सादर समर्पित करते हैं।

नियति पाढ़ी

कानपुर

लेखक परिचय

उड़िया भाषा के प्रमुख साहित्यकार ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी का जन्म 6 जून, 1919 को उड़ीसा राज्य के गंजाम जिले की चिकीटी तहसील में लोकनाथपुर नामक स्थान पर श्री नेत्रानन्द पाढ़ी एवम् श्रीमती चन्द्रकला पाढ़ी के परिवार में हुआ। एक सामान्य परिवार में जन्म और परवरिश पाने वाले ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी का जीवन, बिना किसी बाहरी सहयोग के स्वप्रेरणा, आत्म अनुशासन एवम् अदम्य इच्छाशक्ति से जीवन के संघर्षों पर विजय प्राप्त करते हुए सफलता के आयाम हासिल करने वाले एक स्व–निर्मित युग मनीषी का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात आप उच्च शिक्षा के लिए काशी चले गये, जहॉ आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से वर्ष 1951 में स्नातक तथा वर्ष 1953 में संस्कृत भाषा में परास्नातक की शिक्षा प्राप्त की। शेष शिक्षा आपने उत्कल विश्वविद्यालय से पूरी की, जहॉ आपने वर्ष 1954 में उड़िया भाषा में परास्नातक तथा वर्ष 1960 में पण्ड़ित नीलकंठ दास के मार्गदर्शन में उड़िया साहित्य पर पीएचडी की उपाधि हासिल की। वस्तुतः ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी उत्कल विश्वविद्यालय से उड़िया साहित्य पर पीएचडी की उपाधि हासिल करने वाले प्रथम व्यक्ति हैं।

आपने अपना सम्पूर्ण जीवन उड़िया भाषा, धर्म एवम् संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्वों की खोज में समर्पित कर दिया। आपने उड़िया साहित्य के इतिहास को एक नए दृष्टिकोण से परिभाषित किया। आपके समृद्ध रचना संसार में साहित्य के विविध रंग यथा नाटक, निबन्ध, आलोचना, उपन्यास, कविता समान प्रबलता के साथ दृष्टिगोचर होते हैं। जटिल विचारों को सरल, स्पष्ट और सुसंगत भाषा में व्यक्त करने की आपकी क्षमता अद्भुत है। ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी ने कुल 15 पुस्तकों की रचना की, जिनमें अविश्वासी, श्रीरामकथामृत, दारुदेवता, उद्राजा प्राकृति, श्री जगन्नाथ तत्व विमर्श, भांजिय काव्य भावना, पुरातन कलिंग का सामाजिक इतिहास, उड़ीसा का साहित्य, संस्कृति और धर्मधारा प्रमुख हैं। उड़िया साहित्य में आपके अनुपम योगदान के लिए वर्ष 1997 में आपको साहित्य भारती तथा वर्ष 2000 में प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। दिनांक 10 अगस्त, 2006 को 87 वर्ष की आयु में आपका देहान्त हो गया। केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने वर्ष 2019 में ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी की जन्म शताब्दी के अवसर पर स्मृति व्याख्यान माला का आयोजन भी किया। वस्तुतः सच तो यह है कि ड़ा० बेणीमाधव पाढ़ी जैसे साहित्यकार अपनी रचनाओं से सदैव पाठकों के बीच रहते हैं।

प्रस्तावना

'दारुदेवता' कहने से जगन्नाथ जी के अतिरिक्त कोई और नहीं होगा। आहिमाद्रिकुमारिका भारतवर्ष में प्राचीनकाल से जितने भी देवी–देवता उपासित होते आए हैं, उनमें से कोई भी दारु या काठ के बने हुए नहीं हैं। मात्र जगन्नाथ जी ही 'दारुदेवता' के रूप में अनादिकाल से पूजित होते आ रहे हैं। विशेषतः जगन्नाथ जी के मन्दिर के अलावा किसी और देव मन्दिर में आब्राह्मण चांडाल का एक ही पात्र में सिद्ध अन्न का भोजन करना ज्ञात नहीं है। जगन्नाथ जी की भोग सामग्री के अलावा किसी और देवता के नैवेद्य को महाप्रसाद या कैवल्य की आख्या नहीं मिली है। इसके स्पर्श में कोई जात–पाँत का निषेध नहीं, न ही खाद्य में उच्छिष्ट है। यहाँ सभी समान हैं, सभी कैवल्य के अधिकारी हैं। यही ओड़िशा में जगन्नाथ जी की मौलिक विशेषता है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ जी की एक और विशेषता है। अन्यत्र पूजित देवताओं के नाम के साथ वहाँ की संस्कृति या धर्म जुड़ा हुआ दिखाई नहीं देता है। मध्य भारत में 'विश्वनाथ' के साथ या दक्षिण भारत में 'रामनाथ' के साथ उस प्रदेश की संस्कृति का सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार से पश्चिम भारत में प्रसिद्ध देव 'सोमनाथ' के नाम से उस प्रांत की धर्म या संस्कृति नामित नहीं हुई है। परन्तु ओड़िशा के धर्म कहने से 'जगन्नाथ धर्म', संस्कृति कहने से ''जगन्नाथ संस्कृति', इतिहास कहने से 'जगन्नाथ का इतिहास' माना जाता है। जगन्नाथ जी ही ओड़शावासियों के धर्म और विश्वास का प्राण केन्द्र हैं। वे ओड़िशावासियों की दृष्टि में मदन सुन्दर नहीं 'कालिया', 'पद्मलोचन' नहीं 'चकाडोला', चतुर्भुज नहीं 'बलिआरभुज' हैं। इस देश में जैन, बौद्ध, वैष्णव, शाक्त, आदि कितने ही धर्मवादों की बाढ़ आई है, कितने धर्मगुरू और मतप्रचारक आकर अपने मतवाद का प्रचार कर गये हैं, परन्तु कोई भी कभी जगन्नाथ जी को अपना नहीं बना पाया। वे दारु को पत्थर नहीं बना पाये, ना ही उनके रूप में कोई परिवर्तन ला पाये। जो भी नया मिला, जिसे भी समय पर जनता ने ग्रहणीय माना, उसे ही जगन्नाथ जी की पूजा विधि में जोड़ दिया गया। इसलिये प्राचीनतम जैन परम्परा से लेकर चैतन्य महाप्रभु के प्रेमधर्म एवं अन्य धर्मों की पूजा विधियाँ जगन्नाथ जी की पूजा रीति में सम्मिलित हैं। दोनों बाहें पसार कर सभी धर्मों व दर्शन को जगन्नाथ जी ने आलिंगित कर अपना लिया है, और स्वयं अलग, अटल होकर नीलांचल में पतितपावन पताका फहराते हुए रत्नसिंहासन पर विराजमान हैं। पर परिताप का विषय है कि आज तक कब, कैसे, किसके द्वारा जगन्नाथ जी की पूजा का प्रवर्तन हुआ, इसके सम्बन्ध में कोई भी तथ्य निःसंदिग्ध रूप से नहीं हुआ या हो नहीं पाया है। इस सन्दर्भ में पौराणिक युग से लेकर इसी सदी के द्वितीयार्ध तक पुराणविद और इतिहासकारों के द्वारा भिन्न–भिन्न अनुमान ही लगाए गये हैं।

उनमें से कुछेक आलोचकों ने बौद्ध धर्म सम्बन्धित त्रिरत्न, बुद्ध, धम्म और संघ के साथ जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा, इन तीन नामों की तथा रूपगत समानता देखकर 'दारुब्रह्म उपासना' को बौद्धधर्मीय प्रमाणित करने का प्रयास किया है। कई लोगों ने वैदिक बीजाक्षर ऊँकार (अ–उ–म) से उत्पन्न, फिर कितनों ने सृष्टि–स्थिति–प्रलय के कारण ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की धारणा से प्रकाशित और कुछेक ने द्वारकानाथ कृष्ण के भाई–बहन बलराम और सुभद्रा के स्वरूप

मानकर तर्क सिद्ध करके जगन्नाथ जी की पूजा में वैष्णवता का प्रतिपादन किया है। इसके अलावा सुदर्शन सहित चारों विग्रहों को वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम से चतुर्द्धामूर्ति के रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास भी संस्कृत और ओड़िआ पुराणों में कम नहीं हुआ है। मात्र इतना ही नहीं, जगन्नाथ जी की उपासना को विभिन्न धार्मिक मतवादों के समन्वयन–पीठ के रूप में ग्रहण करने के लिये शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों की मिलित प्रचेष्टाओं के उदाहरण भी पाये जाते हैं। फलस्वरूप हम जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा को क्रमशः विष्णु, शक्ति और शिवलिंग के रूप में एकत्र उपासित होते देखते हैं। इसी तरह बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, आदि सभी ने दारुब्रह्म को अपना प्रमाणित करने की प्रचेष्टाएँ की हैं, पर दारुब्रह्म किसी के भी नहीं हुए। वे आजतक आदिम शबर जाति के दारुदेवता के रूप में नीलाद्रि कंदर में विराजमान हैं। वे उसी आष्ट्रिक (प्रटोअष्टोलॅएड) शबर सम्प्रदाय के दारु हैं। प्रवाहमान काल के अनिवार्य प्रभाव के फलस्वरूप बाह्याकृति में कुछेक परिवर्तनों के बावजूद अंतःप्रकृति अविकृत होकर 'दारु' के रूप में पूजित होते आ रहे हैं। यही इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है।

चाहे जो भी हो? पुराणों में जो भी वर्णन जगन्नाथ जी के बारे में उपलब्ध है, उनमें भक्ति के विश्वास के अलावा कोई और प्रमाण नहीं है। लोकश्रुतियों और किंवदन्तियों के मात्र पुराण–भित्तिक होने के कारण उन पर आस्था स्थापित नहीं की जा सकती है। जगन्नाथ जी की पूजा और दारु उपासना प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है, फिर भी ऐतिहासिक काल की अवधि में प्राप्त हुई मुद्रा, लिपि, अभिलेख और दानपात्रों में कपिलेन्द्र, देव, आदि कतिपय के अतिरिक्त दूसरों के शासनकाल में उनकी प्रतिष्ठा को लेकर कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। विशेषकर अब भी नये–नये आविष्कारों के कारण नवीन विचार और अनुमान लगाए जा रहे हैं। दारु विग्रह के निर्माण वैचित्र्य को देखकर उसका काल निर्णित भी नहीं हो पाता। दारुदेवता में अनेक धार्मिक विश्वासों के समावेश के कारण धार्मिक दृष्टिकोण से भी आलोचना के द्वारा कोई अभ्रान्त सिद्धान्त स्वीकार करने की भी सम्भावना नहीं है। इसलिए आलोचना के क्षेत्र में लेखकों के पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, लोककथा, किंवदन्ती, प्राचीन वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, आरण्यक, जैन धर्मग्रन्थ, बौद्ध ग्रन्थ और बौद्ध जातक के साथ प्राचीन काल से भारत के साथ सम्पर्कित देशों के सामाजिक और धार्मिक इतिहास की तुलना कर उस समय के विदेशी परिव्राजकों के मतों के तुलनात्मक विचार के माध्यम से सही सिद्धान्त में उपनीत करना होगा। इसके अलावा जगन्नाथ जी के नाम, रूप, गुण और अवस्थान के साथ दृष्टि और रीतियों में साम्य, आदि के आधार पर देखना परखना होगा। अर्थात् परम्परा, परिवेश और पुरादृष्टि न हो तो इस तरह की जटिल समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। इन सभी विधाओं को सामने रखकर ही इस ग्रन्थ की योजना हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ नौ अनुच्छेदों में विभाजित है। प्रथम प्रकाश में इन्द्रद्युम्न किंवदन्ती की पौराणिक परम्परा पर विचारात्मक आलोचना है। इसमें महाभारत से लेकर पद्म पुराण, विष्णु पुराण, स्कन्द पुराण, आदि में वर्णित इन्द्रद्युम्न किंवदन्ती का ऐतिहासिक मूल्य निरूपित हुआ है, लेकिन त्रिमूर्ति गठन के साथ केवल उस किंवदन्ती से सम्बन्ध अनिर्दिष्ट होने के कारण दारुदेवता के प्रसंग में कोई अन्तिम सिद्धान्त नहीं लिया गया है। द्वितीय प्रकाश में दारुदेवता की

प्राचीनता, शाबर मौलिकता के बारे में जैन, बौद्ध, ब्राह्मण्य तथा पुराण धर्म किस भाँति सहमत हुए हैं, दर्शाने के बाद, वह आष्ट्रिक शबर समुदाय में प्रचलित वृक्ष पूजा के अन्तिम पर्याय ही दारुपूजा है, ऐसा साबित हो गया है। यही मेरी धारणा और अनुमान का निष्कर्ष है। तृतीय प्रकाश में प्राचीन शबर समुदाय का इतिवृत्त और मोहन जोदड़ो के पूर्वकालीन दारूपूजा किस तरह अब भी ओड़िशा के गंजाम–माळ इलाके में, 'शबर' जाति के लोगों द्वारा होती है, इसी का विश्लेषण किया गया है। कोरापुट और पारळाखेमुण्डी के 'माळ' अंचलों में घूमकर उनके आचार, विचार, आदि के बारे में प्रत्यक्ष यात्रानुभूति लेकर उसे ही इस ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया गया है। चतुर्थ प्रकाश में आर्यों के भारत आने के बाद मोहन जोदड़ो कालीन द्राविड़ सभ्यता और आर्य सभ्यता के संघर्ष के बारे में, किस तरह समस्या का समाधान हुआ और उसके कारण शाबर सभ्यता किस प्रकार प्रभावित हुई थी, इसकी चर्चा हुई है। पंचम प्रकाश में आष्ट्रिक शबर समुदाय द्वारा पूजित वृक्षदेवता किस प्रकार दारुदेवता के रूप में वैदिक काल से आराधित होते आ रहे हैं और किस दृष्टिकोण से वैदिक आर्यों ने उन्हें अपनाना चाहा, उसके काल क्रमिक विचार से ऐतिहासिक धारा द्वारा ऋग्वेद का आनुमानिक काल निरूपित हुआ है। षष्ठ प्रकाश में पहले किस प्रकार से दारुदेवता पर द्राविड़ या जैन सम्यता का प्रभाव हुआ और इस के फलस्वरूप शबर सभ्यता को लाभ अथवा हानि पहुँची, इसी पर चर्चा हुई है। सप्तम प्रकाश में रामायण में शबर संस्कृति के बारे में क्या संकेत मिलता है, दर्शा कर तब शबर समुदाय के देवता और धार्मिक धारणा के बारे में कहने के लिए समसामयिक ब्राह्मण तथा उपनिषदों के विचारों का विश्लेषण हुआ है। अष्टम प्रकाश में महाभारत युद्धकालीन शबर समुदाय के दर्शन तथा संस्कृति का विचार करते हुए 'दारुदेवता पर गीता का प्रभाव' के सम्बन्ध में तथ्य संग्रहीत किए गये हैं। नवम प्रकाश या अन्तिम प्रकाश में दारुदेवता के क्रम परिणाम की तात्विकता पर विस्तृत विचार के उपरान्त दारुदेवता मूलतः शबरों के हैं और वे आर्य–अनार्य सभ्यता के विराट समन्वयक हैं, इसी बात को सिद्धान्त रूप से अभिव्यक्त किया गया है।

परिशिष्ट में त्रिमूर्ति निर्माण के बारे में पुराण और आलोचकों के संभाव्य अभिमतों का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ की परिसमाप्ति हुई है।

लेखक

डॉ0 वेणीमाधव पाढ़ी

प्रथम प्रकाश

पुराणों में इन्द्रद्युम्न किंवदन्ती की परम्परा

जगन्नाथ जी के बारे में संस्कृति, पुराण और इतिहासकारों का क्या कहना है, पहले इसी पर चर्चा करें। वाल्मीकि कृत रामायण, पुराण और ऐतिहासिक ग्रन्थों में अन्यतम प्राचीन ग्रन्थ है। रामायण में जगन्नाथ जी या दारुदेवता के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु महाभारत में दारुपूजा का कोई स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी 'महावेदी' के सम्बन्ध में कुछेक उल्लेख पाए जाते हैं। महाभारत में युधिष्ठिर के तीर्थ भ्रमण प्रसंग में कहा गया है –

''..... उसके पश्चात् राजा युधिष्ठिर भाइयों के साथ समुद्र के किनारे चलते हुए कलिंग की ओर बढ़ने लगे। वहाँ वैतरणी नदी प्रवाहित है और वह प्रदेश एक यागोपयोगी पर्वत के कारण रमणीय लगता है। पहले पाण्डवों ने द्रोपदी सहित वैतरणी में स्नान व तर्पण किया। उस समय युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर देते हुए लोमश ऋषि ने कहा – वहाँ विश्वकर्मा ने यज्ञ के बाद यज्ञ की दक्षिणास्वरूप कश्यप के हाथों जब पृथ्वी को समर्पित कर देने की इच्छा प्रकट की, तब क्रोधित होकर पृथ्वी ने कहा, ''मुझे किसी मरणशील मनुष्य के हाथों सौंप देना उचित नहीं। यदि तुम ऐसा करोगे तो मैं पाताली हो गुप्त हो जाऊँगी।'' ऐसा कहकर पृथ्वी पानी में डूब गयी। इसके उपरान्त कश्यप मुनि विभिन्न प्रकार की स्तुतिवाणी करते हुए धरती को मनाने की चेष्टाएँ करने लगे। अन्त में सन्तुष्ट होकर धरती पानी के अन्दर से बाहर आकर 'वेदी' के रूप में दिखाई दी। वह वेदी एक 'संस्थान' स्वरूप होकर सागर के अत्यन्त समीप स्थित थी। उस वेदी पर जाने वाले बलवान और वीर्यवान होते हैं।''

इससे अनुमान होता है कि महाभारत काल तक वैतरणी नदी जहाँ प्रवाहित थी, ऐसे कलिंग राज्य के पूर्व समुद्री तट पर एक पर्वताकार महावेदी प्रतिष्ठित थी। वह एक पवित्र तीर्थ के रूप में सम्मानित थी। लेकिन वहाँ किस तरह की पूजा या धर्मानुष्ठान प्रचलित था, यह ज्ञात नहीं होता, पर उस में 'यज्ञाय' और 'गिरिशोभितं' पद द्वय के प्रयोग देखकर पुराणकारों ने महाभारत के वनपर्व के अध्याय क्र. 198 में वर्णित यज्ञानुष्ठानकारी इन्द्रद्युम्न के यज्ञ के साथ 114वें अध्याय में वर्णित विश्वकर्मा के यज्ञ की ऐक्य–कल्पना करके एक सुसम्बद्ध किंवदन्ती की रचना की है। महाभारत के वनपर्व में वर्णित इन्द्रद्युम्न उपाख्यान में इन्द्रद्युम्न के बारे में इस प्रकार का उल्लेख है।

मार्कण्डेय मुनि से पाण्डवों और ऋषियों ने पूछा – ''आपसे प्रचीनतर कोई है क्या ?'' उत्तर में मार्कण्डेय मुनि ने कहा – ''हाँ, राजर्षि इन्द्रद्युम्न मुझ से प्राचीनतर हैं।'' फिर प्रश्न हुआ – ''कैसे ?'' तो मार्कण्डेय मुनि ने कहा – ''राजर्षि इन्द्रद्युम्न क्षीणपुण्य विवेचित होने पर एक दिन स्वर्ग से विच्युत होकर मृत्युलोक आए और मुझसे प्रश्न किया – ''आप मुझे जानते हैं क्या ?'' मैंने कहा – ''वह सब देखने, जानने के लिए मेरे पास समय कहाँ ? मेरे पास तो अपने लिए भी समय नहीं है।'' तब उन्होंने पूछा – ''अच्छा तो यह बताएँ, क्या आपसे भी प्राचीनतर कोई है ?'' तो मैंने कहा – ''मुझ से प्रावारकर्ण नामक उलूक प्राचीन है। यह हिमालय में रहता है, वह जगह यहाँ से काफी दूर है।'' यह सुनकर इन्द्रद्युम्न

घोड़ा बने और मुझे पीठ पर बैठाकर उलूक के निवास पर पहुँचे। इन्द्रद्युम्न को पहचानने के बारे में जब पूछा गया, तब उलूक ने जवाब दिया – ''उससे नाड़ीजंघ नामक बगुला प्राचीन है।'' बगुले से पूछने पर उसने कहा – ''इन्द्रद्युम्न, पुष्करिणी में निवास करने वाले 'अकुपार' नामक कच्छप मुझ से प्राचीन है। उससे मिलने पर हो सकता है कि वह सन्देह मोचन कर पाए।'' इसके बाद वे दोनों कच्छप के पास आए। पूछे जाने पर उसने वाष्पाकुल कंठ से कहा – ''मैं कैसे इन्द्रद्युम्न के बारे में नहीं जानूँगा ? उन्होंने यहाँ पर सहस्र बार यज्ञ का अनुष्ठान किया था। उस समय दान के लिए लाई गई गायों के खुराघात से यह पुष्करिणी बनी है और तब से मैं यहाँ निवास कर रहा हूँ।''

इस उपाख्यान में महावेदी या दारुदेवता के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। महाभारत के परवर्ती अष्टादश पुराणों में अपेक्षाकृत प्राचीन मत्स्य पुराण में पुरुषोत्तम तीर्थ के बारे में दो बार उल्लेख है, फिर भी इन्द्रद्युम्न के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। एक बार ''विमळा पुरुषोत्तमे'' और एक बार ''गोकर्ण गजकर्ण च तथा पुरुषोत्तमः'' है। यद्यपि इन्द्रद्युम्न सरोवर का नामोल्लेख है, वह पुरी तीर्थ की इन्द्रद्युम्न पुष्करिणी या कोई और, कह पाना कठिन है क्योंकि वहाँ 'नलिनीधारा' नामक एक नदी प्रवाहित हो रही थी, ऐसा स्पष्ट रूप से कहा गया है। इसके परवर्ती विष्णु पुराण में इन्द्रद्युम्न को स्वायंभुव मनु का दशम वंशधर कहा गया है और वे राजा थे, इसके अलावा और कुछ नहीं। इसके परवर्ती पद्म पुराण में, नारदीय और स्कंद महापुराण में इन्द्रद्युम्न चरित् का सन्निवेश जिस तरह हुआ है, संक्षेप में उसका विवरण इस प्रकार होगा। पद्म पुराण के पाताल खण्ड में 'नीलगिरि महात्म्य है, फिर भी उसमें इन्द्रद्युम्न प्रसंग नहीं है। उसमें केवल यही है –

गंगासागर संगम से गण्डुकी नदी पार करने पर पुरुषोत्तम क्षेत्र आता है। उसके मध्य में नीलगिरि अवस्थित है। श्रीराम के यज्ञाश्व की रक्षा करते हुए शत्रुघ्न कई स्थानों के भ्रमणोपरान्त नीलगिरि आए और वहाँ सुमति से नीलगिरि के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा – ''वहाँ पुरुषोत्तम पूजित होते हैं। एक दिन किसी तीर्थयात्री ब्राह्मण ने वहाँ पहुँचकर सबको चतुर्भुज रूप में देखा। इसका कारण जानने की इच्छा से उसने भीलों से पूछा तो उन्होंने बताया ..... पृथुक नामक किसी बालक ने वन में भ्रमण करते हुए इस गिरिश्रृंख पर चढ़कर एक अद्भुत मन्दिर देखा। अन्दर जाकर उसने वहाँ चतुर्भुज हरि को विराजमान देखा। उनकी चारों भुजाओं में क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभित हैं। देवतागण धूप, दीपादि से पूजार्चन कर रहे हैं, इतस्ततः प्रसाद बिखरा पड़ा है। पृथुक उस प्रसाद के एक सामान्य कण को मुँह में डालते ही चतुर्भुज रूप हो गए। यह सुनकर ब्राह्मण ने भी गंगासागर संगम में स्नान किया और नीलगिरिस्थ पुरुषोत्तम का दर्शन किया, जिससे वह भी पुरुषोत्तम हो गया। कुछ दिनों के बाद एक दिन कांची के धार्मिक वृत्ति वाले राजा 'रत्नग्रीव' ने उसी ब्राह्मण को स्वप्न में देखा और दूसरे दिन ब्राह्मण को अपनी राज्यसभा में उपस्थित देखकर उनके चतुर्भुजत्व के बारे में पूछा, तो ब्राह्मण ने शबरों से सुनी पुरुषोत्तम महात्म्य की कथा सुनाई। इसे सुनकर राजा ने भी तीर्थयात्रा का निश्चय किया और एक दिन शुभ घड़ी देखकर उन्होंने नीलगिरि दर्शन के लिये प्रस्थान किया। गंगासागर संगम में स्नान कर जब उन्होंने नीलगिरि की ओर देखा तो वह दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इससे दुःखी होकर राजा ने वहीं रुकते हुए प्रभु स्मरण

कर अनशन व्रत प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार पाँच दिन बीत जाने पर भगवान सन्यासी के रूप में वहाँ आए। राजा के प्रति सदय होकर सन्यासी ने कहा, ''कल मध्याह्न काल में तुम्हें नील रूपी भगवान दर्शन देंगे।'' राजा ने उन्हें दण्डवत प्रणाम किया और अपने आपको सौभाग्यवान माना। सन्यासी के कथनानुसार राजा ने दूसरे दिन मध्याह्न में पर्वत पर पुरुषोत्तम के दर्शन करके चतुर्भुजत्व को प्राप्त किया और वैकुण्ठ को प्रस्थान किया।'' इसके अतिरिक्त इस पुराण में और कुछ नहीं है।

परन्तु ब्रह्म पुराण के अनुसार, अवन्ति देश के राजा 'इन्द्रद्युम्न' परम वैष्णव थे। वह वासुदेवाख्य परम पद प्राप्त कर विष्णु की आराधना के लिए पुरुषोत्तम क्षेत्र पधारे। उसके पहले वहाँ 'इन्द्रनीलाख्य विग्रह' पूजित होते आ रहे थे। उनके दर्शन से सभी चतुर्बाहु होकर श्वेताक्ष भवन को पधार रहे थे। अतः यमराज ने आकर भगवान के समक्ष शिकायत करते हुए कहा – ''भगवन्, आपके इस 'नीलकान्त विग्रह' के दर्शन से सभी चतुर्बाहु होकर श्वेत लोक को जा रहे हैं, जिससे मेरा कर्तव्य पालन नहीं हो पा रहा है। ऐसे में मेरी और क्या आवश्यकता है ? आप अगर इस प्रतिमा को अदृश्य नहीं करेंगे, तो यह संसार नहीं रहेगा।'' यह सुनकर भगवान ने उस प्रतिमा को बालू से ढककर अदृश्य कर दिया। इसके बाद इन्द्रद्युम्न ने वहाँ अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान किया, इसी से यज्ञांग–संभूत इन्द्रद्युम्न सरोवर की उत्पत्ति हुई। इसके बाद इन्द्रद्युम्न ने समुद्र में भासमान एक महाद्रुम को सपने में देखा तो दूसरे ही दिन प्रातःकाल दल–बल लेकर समुद्र तट पर उपस्थित हो गये। तब विष्णु और विश्वकर्मा ने ब्राह्मणों के वेश में दर्शन दिए। इन्हीं के द्वारा त्रिमूर्ति का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ। उनकी स्थापना के लिए उत्कल, कलिंग, कोशल राज्य की सहायता से विन्ध्यपर्वत से शिलाएँ लाकर एक प्रासाद का निर्माण किया गया। उसमें संकर्षण, सुभद्रा और जगन्नाथ, इन तीनों मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। इस पुराण में हमें सबसे पहले वृक्ष को 'पुरुषेश' या 'पुरुषोत्तम' कहे जाने का प्रमाण मिलता है। यद्यपि 'कल्पवृक्ष', 'पुरुषोत्तम', 'नीलमाधव', आदि नामों के प्रयोग पुराणों में अनेक बार हुए हैं, फिर भी इतनी स्पष्ट और प्रांजल भाषा में इसके पूर्व कभी वर्णित नहीं हुआ है। इसमें ''सनातन वट वृक्ष का नाम ही पुरुषेश है'' कहा गया है। स्कन्द पुराण में भी इसी के अनुरूप एक श्लोक मिलता है। उसमें ''न्यग्रोध वृक्ष ही नारायण है'' कहा गया है। यह ब्रह्म पुराणोक्त वाक्य की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्लोक इस प्रकार है –

''न्याग्रोधरूपं दृष्ट्वापि नारायणम कल्पषम्।
निष्पापो जायते मर्त्यः किमुतं पूजयन स्तूपन।।''

अर्थात् न्यग्रोधरूपी नारायण को देखने मात्र से मनुष्य पाप शून्य हो जाता है। उनकी स्तुति, पूजा करें तो क्या न हो।

ब्रह्म पुराण वर्णित इन्द्रद्युम्न उपाख्यान के बाद नारद पुराणोक्त उपाख्यान काफी मिलता है, परन्तु नारद पुराण में प्रासाद निर्माण के समय इन्द्रद्युम्न ने कलिंग, उत्कल और कोशल राज्य की सहायता ली थी, ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। और सब समान है। परन्तु स्कन्द पुराण के समय इन्द्रद्युम्न ही पुरी 'बड़ देउळ' (श्री मन्दिर) निर्माण कथा के महानायक बन चुके थे। यद्यपि महाभारत के वन पर्व–198 अध्याय में वर्णित महावेदी प्रसंग का कोई सम्बन्ध नहीं है और

इन्द्रद्युम्न एक प्राचीन कीर्तिमान राजा थे, के अलावा कोई और तथ्य प्राप्त नहीं होता है, फिर भी स्कन्द पुराण के इन्द्रद्युम्न चरित के साथ इसे जोड़ दिया गया है। साथ ही ब्रह्म पुराण वर्णित 'यम–भगवान संवाद' को इस तरह सुसंगत और सुगठित करके उसके साथ संयुक्त किया गया है कि देखकर विस्मित होना पड़ता है।

इसमें महाभारत वर्णित महावेदी चरित, इन्द्रद्युम्न उपाख्यान, ब्रह्म पुराण का यम–भगवान संवाद, पद्म पुराण वर्णित पुरुषोत्तम चरित, नारद पुराणोक्त इन्द्रद्युम्न के साथ विष्णु पुराणोक्त इन्द्रद्युम्न के सादृश्य रखते हुए एक विस्तृत और विचित्र उपाख्यान की सर्जना हुई है। इन सबका तुलनात्मक विचार होने पर सत्य–असत्य का पता चलता है। स्कन्द पुराण उत्कल खण्ड में वर्णित पुरुषोत्तम चरित के अनुसार – वराहरूपी विष्णु के द्वारा दन्ताग्र से पृथ्वी को महाप्रलय से उद्धार करने के पश्चात् एक दिन ब्रह्मा ने विष्णु से पूछा, ''किस उपाय से सचराचर जीवगणों का मोक्ष संपादन किया जा सकेगा ?'' तो विष्णु ने उत्तर में कहा, ''पुरुषोत्तम क्षेत्र के नीलगिरि पर वे स्वयं 'नीलमाधव' के रूप में पूजित होते आ रहे हैं, वहाँ उनके दर्शन मात्र से सायुज्य मुक्ति या चतुर्भुजत्व की प्राप्ति होती है।'' उसी के फलस्वरूप यमराज के कर्तव्य संपादन में विघ्न उपस्थित हुआ। यमराज ने उसके प्रतिकार के लिए प्रार्थना की। फलस्वरूप नीलमाधवरूपी विष्णु ने कुछ दिनों के बाद वहाँ से अन्तर्ध्यान हो जाने का वायदा किया।

नीलगिरि पर एक काशव्यपी कल्पवृक्ष के पश्चिम की ओर रोहिणी कुण्ड है। उसी कुण्ड के उत्तर की ओर नीलमाधव मूर्ति शबरों के द्वारा आराधित होती आ रही थी। तब तक उस क्षेत्र की महिमा के बारे में किसी को पता नहीं था। केवल देवगण ही प्रतिदिन नीलमाधव की पूजा किया करते थे। ब्रह्मा की पाँचवीं पीढ़ी के सूर्यवंशी राजा इन्द्रद्युम्न सत्युग में अवन्ति राज्य पर राज करते थे। वे विज्ञ और वैष्णव थे। एक दिन राजा ने पंडितों की सभा बुलाकर उनसे पूछा – ''मैं कहाँ जाकर विष्णु के साक्षात् दर्शन कर सकूँगा ?'' तब वहाँ उपस्थित एक तीर्थ पर्यटक तपस्वी ने उत्तर दिया – ''उड्र देश के नीलगिरि पर स्वयं भगवान विष्णु पुरुषोत्तम के रूप में विराजित हैं, उन्हीं के दर्शन से स्वदेह में मोक्ष की प्राप्ति होती है।'' यह सुनकर इन्द्रद्युम्न ने अपने कुलपुरोहित के भाई विद्यापति को 'चार' के रूप में उत्कल भेजा। वहाँ पहुँचकर नीलगिरि के पश्चिम की ओर एक शबरपल्ली में उन्होंने निवास किया। वहीं 'विश्वाबसु' शबर के साथ उनका परिचय हुआ। विद्यापति ने उससे अनुरोध करते हुए कहा – ''जब तक वे वापस नहीं लौट जाते, तब तक महाराज इन्द्रद्युम्न उपवासी रहेंगे। इसलिए एक बार नीलमाधव के दर्शन करने की व्यवस्था कर दें।'' शबर ने दया की और एक संकीर्ण मार्ग से विद्यापति को साथ लेकर नीलमाधव का दर्शन कराया।

इसके बाद विद्यापति अवन्ति लौट आए। इसी बीच भगवान ने यमराज से जो वायदा किया था, उसके पालन हेतु नीलमाधव मूर्ति को बालू से ढककर अदृश्य हो गए। उधर राजा ने नारद जी को साथ लेकर दल–बल सहित उत्कल की ओर प्रस्थान किया। उत्कल की सीमा पर पहुँचते ही वहाँ के राजा ने कुछ दिन पहले नीलमाधव के अन्तर्ध्यान हो जाने का समाचार सुनाया। समाचार सुनकर महाराज इन्द्रद्युम्न अत्यन्त दुःखी हुए। तब नारद जी ने आश्वासन देते हुए कहा – ''कोई चिन्ता न करें, भगवान चतुर्द्धामूर्ति होकर दर्शन देंगे।'' यह सुनकर राजा आश्वस्त हुए और नीलगिरि दर्शन

कर वहाँ एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ के आयोजन की व्यवस्था करने लगे।

सभामण्डप और यज्ञवेदी का निर्माण हुआ। अश्वमेध यज्ञ की परिसमाप्ति के दिन नीलमाधव ने स्वप्न में इन्द्रद्युम्न को दर्शन दिए। अवभृत स्नान के समय चार शाखाओं से युक्त, समुद्र में भासमान, एक महादारु के बारे में सेवकों ने आकर राजा से निवेदन किया। उसके बाद राजा ने समारोहपूर्वक दारु को लाकर महावेदी पर रखा। नारद जी के साथ विग्रहों के निर्माण सम्बन्धी चर्चा के समय आकाश से देववाणी सुनाई पड़ी, ''स्वयं जगन्नाथ अपनी प्रतिमा की सर्जना कर महावेदी पर विराजित होंगे। महावेदी पन्द्रह दिनों के लिए आच्छादित होकर गुप्त रहेगी। जो बूढ़ा विग्रह बनाने वाला हाथों में औजार लिए उपस्थित है, उसे अन्दर भेजकर बाहर से द्वार बन्द कर देना होगा। निर्माण कार्य जब तक समाप्त नहीं हो जाता, उसके पास कोई नहीं जाएगा। यहाँ तक कि निर्माणकालीन कोई शब्द भी सुनना निषिद्ध है।''

उसके बाद विविध वाद्यों की व्यवस्था हुई और देववाणी के अनुसार कार्य पूर्ण हुआ। पन्द्रहवें दिन के अन्त में महावेदी पर बलभद्र, सुभद्रा, जगन्नाथ और सुदर्शन, ये चार विग्रह दिखाई दिए। उसके बाद फिर से देववाणी हुई, ''राजन्, इन चतुर्द्धामूर्तियों को पाट वस्त्र से आवेष्ठित कर अपने अपने रंगों से रंगवाएँ। नीलांचल पर एक सहस्र हाथ ऊँचा और तदनुरूप आयतन वाला एक मन्दिर बनवाकर इन विग्रहों की प्रतिष्ठा करें।'' उसके बाद राजा ने जगन्नाथ की पूजा पुरुषसूक्त मंत्र से, द्वादशाक्षर मंत्र से बलभद्र की तथा देवी मंत्र से सुभद्रा की पूजा की। तुलापुरुष तथा गोदान, आदि संख्याहीन दान दिए। अश्वमेध के समय जो गोदान दिया गया था, उन्हीं गौओं के खुराघात से वहाँ एक महागर्त की सृष्टि हुई और दानकालीन शंखजल से परिपूर्ण होकर पुष्करिणी बनी, जिसे बाद में इन्द्रद्युम्न सरोवर के नाम से जाना गया।

इसके पश्चात् इन्द्रद्युम्न ने मन्दिर का निर्माण कार्य आरम्भ करने का निश्चय किया। उस समय भारत भर में जितने भी राजा थे, सभी ने मन्दिर निर्माण कार्य के लिए सहायता दी। अपने बाहुबल से इन्द्रद्युम्न अष्टादश द्वीपों से जो उपार्जन कर लाए थे, सब उस निर्माण कार्य में व्ययित हुआ। मन्दिर का निर्माण कार्य पूरा नहीं हुआ था, तब नारद जी के परामर्श से मन्दिर की प्रतिष्ठा के लिए ब्रह्मा जी को आमन्त्रित करने हेतु वे ब्रह्मलोक गए। उस समय ब्रह्मा जी संगीत सुन रहे थे। गायन की समाप्ति तक कई युग बीत चुके थे। अंत में ब्रह्मा जी इन्द्रद्युम्न के आगमन का कारण जान कर बोले – ''राजन! तुम्हारे यहाँ आने के बाद से अब तक मृत्युलोक में अपरिमित काल व्यतीत हो चुका है। इस बीच मन्दिर की क्या दशा हुई, पता नहीं। अतः तुम पहले जाओ और वह मन्दिर अब तुम्हारे अधीन है कि नहीं, देखो। नहीं तो उसे अपने अधिकार में लाओ। मैं तुम्हारे पीछे पीछे चलूँगा।''

यह सुनकर इन्द्रद्युम्न गुरु वृहस्पति, नारद जी और देवताओं को साथ लेकर धरती पर आए और देखा कि 'गाल' नामक एक राजा मन्दिर को स्वतन्त्र करा के वहाँ एक 'माधव' प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर के पूजा कर रहे हैं। यह देखकर इन्द्रद्युम्न ने वहाँ से माधव मूर्ति को हटाकर एक और छोटे से मन्दिर में उनकी प्रतिष्ठा कराई। इसके पश्चात् तीन रथों का निर्माण कर महावेदी पर से तीनों विग्रहों को ले आए। यह सुन कर श्वेतराज गाल क्रुद्ध होकर चतुरंग सेना

लेकर पुरुषोत्तम आए। वहाँ नारद, वृहस्पति, आदि देवगणों से इन्द्रद्युम्न के ब्रह्मलोक गमन की कथा तथा उनके द्वारा पुष्करिणी और मन्दिर के बारे में प्रत्यक्ष साक्ष्य पाकर किसी भी प्रकार का विरोध किए बिना इन्दद्युम्न की सहायता की और अब तक दारुब्रह्म की उपासना न कर पाने के कारण दुःखी हुए। ब्रह्मा जी ने ब्रह्मलोक से आकर मन्दिर तथा देवताओं की प्रतिष्ठा की। अन्त में इन्द्रद्युम्न ने गाल के हाथों मन्दिर का भार सौंपकर ब्रह्मलोक की ओर प्रस्थान किया।

इस उपाख्यान के साथ महाभारत वर्णित वनपर्व के 114वें अध्याय में वर्णित महावेदी चरित और 198वें अध्याय में वर्णित इन्द्रद्युम्न उपाख्यान को समन्वित कर विचार करना आवश्यक हो जाता है। महाभारत में इन्द्रद्युम्न उपाख्यान के साथ महावेदी चरित का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों चरितों के लिए दो अलग–अलग अध्याय हैं। एक युधिष्ठिर की तीर्थयात्रा के समय कलिंग प्रवेश के अवसर पर और दूसरा नैमिषारण्य में मार्कण्डेय और मुनियों के बीच प्रश्नोत्तर के समय इन चरितों का उल्लेख है। दोनों में ऐक्य होता तो उन्हें एक जगह, एक या एक प्रसंग के अन्तर्गत उल्लेख किया गया होता। पर वैसा नहीं हुआ है। महाभारत में इन्द्रद्युम्न के द्वारा वेदी की प्रतिष्ठा या दारुब्रह्म की प्रतिष्ठा का भी कहीं वर्णन नहीं है। महावेदी की उत्पत्ति के अतिरिक्त उस प्रसंग में वहाँ किसी देवता के अधिष्ठान का भी कहीं उल्लेख नहीं है। महावेदी के पूर्व वहाँ जिस यज्ञ का अनुष्ठान हुआ था, वह इन्द्रद्युम्न के द्वारा नहीं हुआ था। वहाँ विश्वकर्मा ने यज्ञ किया था। उस समय या उसके बाद भी वहाँ कोई पुष्करिणी थी, उसका भी उल्लेख नहीं है। इससे लगता है कि महाभारत काल में यद्यपि महावेदी प्रतिष्ठित थी, परन्तु उसके साथ इन्द्रद्युम्न का कोई सम्बन्ध नहीं था।

इसके बाद पद्म पुराणोक्त पुरुषोत्तम इन्द्रद्युम्न उपाख्यान की तुलना कर विचार करने की भी आवश्यकता है। पद्म पुराण में इन्द्रद्युम्न का नाम तक नहीं है। इस पुराण में महाभारत वर्णित महावेदी को पर्वत के रूप में लिया गया है और वहाँ 'नीलाख्यदेव' की पूजा के बारे में बतलाया गया है। यह भी कहा गया है कि वहाँ पहले भीलों के द्वारा नीलाख्यदेव पूजे जाते थे। यह बात एक ब्राह्मण को पता चली। उन्होंने जाकर कांचीराज रत्नग्रीव को यह बताया तो वे वहाँ आए, किन्तु उन्हें उनके दर्शन नहीं मिले। अतः उन्होंने अनशन और यज्ञानुष्ठान किया। बाद में पाँच दिनों के उपरान्त एक सन्यासी के द्वारा उन्हें नीलविग्रह के दर्शन मिले और वे मुक्त हो गए।

यहाँ सबसे पहले नीलविग्रह के साथ इन्द्रद्युम्न नहीं, किसी एक राजा का उपाख्यान जोड़े जाने का उदाहरण मिलता है। वह राजा कोई पुराण–इतिहास प्रसिद्ध राजा नहीं हैं। अतः लगता है कि किसी अप्रसिद्ध राजा के साथ पुरुषोत्तम आख्यान के संयोग से ब्रह्म पुराण रचनाकार को सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने प्राचीनतम और महाभारत प्रसिद्ध महाराजा इन्द्रद्युम्न को पुरुषोत्तम प्रसंग से जोड़कर उनकी प्राचीनतम प्रामाणिकता करने की इच्छा की। केवल इतना ही नहीं, इन्द्रद्युम्न पुष्करिणी और इन्द्रद्युम्न सहस्राश्वमेध कथा प्रसंग को भी उसका अंगीभूत कर दिया। रत्नग्रीव उपाख्यान से स्वप्नदर्शन और नीलाख्यदेव का तिरोधान उपाध्यान का संयोग भी बनाए रखा। नीलाख्यादेव के अन्तर्ध्यान के लिए नूतनतः 'यम–भगवान' संवाद की भी सर्जना की गई। उसी आदिम 'नीलाख्यादेव' को पुरुषोत्तम के नाम से अभिहित कर उस स्थान पर त्रिमूर्ति गठन कार्य के लिए विष्णु और विश्वकर्मा, प्रासाद निर्माण में कोशल, कलिंग और

उत्कल के राजाओं की सहायता का भी उल्लेख हुआ। पर हम यहाँ स्कन्दपुराण में महाभारत वर्णित महावेदी और इन्द्रद्युम्न चरित, पद्म पुराण, विष्णु पुराण आदि के मधुर समन्वयन पाते हैं।

स्कन्द पुराण के पुरुषोत्तम उपाख्यान के प्रारम्भ में ब्रह्मा–विष्णु संवाद का उल्लेख हुआ है। ब्रह्मा जी के प्रश्न के उत्तरस्वरूप स्वयं विष्णु 'यम–भगवान' संवाद का व्याख्यान कर प्राचीनकाल से पूजे जाने वाले नीलमाधव किस तरह बालुकाराशि में अन्तर्ध्यान हो गए, उसका विश्लेषण करते हैं। यह पद्म पुराण के द्वारा भी गृहीत है। इसके अलावा जब इन्द्रद्युम्न मन्दिर का निर्माण करते हैं, तब कलिंग, कोशल और उत्कल के राजाओं की सहायता वाली बात भी ब्रह्म पुराण में है। इसी बात को लेकर स्कन्द पुराण रचनाकार कहते हैं – ''उस समय भारत भर में जितने राजा थे, सबने प्रासाद के निर्माण कार्य में सहायता की थी।'' यह भी ब्रह्म पुराण के अवलम्बन में लिखा गया है, निःसन्देह कहा जा सकता है।

पद्म पुराण में है – नीलमूर्ति पहले भीलों के द्वारा पूजे जाते थे। एक तीर्थयात्री ब्राह्मण से उसके बारे में जानकर कांचिराज रत्नग्रीव सैन्यबल सहित नीलदेव के दर्शन की इच्छा से आए। स्कन्द पुराण में है – विद्यापति नामक एक ब्राह्मण से उनके बारे में जानकर राजा इन्द्रद्युम्न सैन्यबल सहित आए, परन्तु उन्हें दर्शन नहीं मिले। पद्म पुराण में यह भी उल्लेख है कि रत्नग्रीव ने भीलदेवता के दर्शन न पाकर पाँच रात और दिन जाग्रत रहकर अनशन करते हुए धर्मचर्या की। दूसरे दिन एक सन्यासी से स्वप्न में दर्शन पाने की भविष्यवाणी सुनी। पर स्कन्द पुराण में उस चतुर्भुज सन्यासी के स्थान पर नारद जी हैं और रत्नग्रीव के यागयज्ञादि के स्थान पर इन्द्रद्युम्न के द्वारा सहस्राश्वमेध यज्ञानुष्ठान की बात कही गई है। यह सहस्राश्वमेध उपाख्यान लगता है महाभारत वर्णित इन्द्रद्युम्न का है। यहीं से महाभारत के इन्द्रद्युम्न चरित में मेल का प्रारम्भ हुआ है। इसके बाद गोखुराघात से सरोवर का बनना, क्षीणपुण्य इन्द्रद्युम्न का ब्रह्मलोक से लौटना, इन्द्रद्युम्न के परिचय पाकर पूछे गये प्रश्नों को मन्दिर के निर्माण विषयक सन्देह–मोचन के लिए उल्लेख करना, आदि के द्वारा महाभारत के इन्द्रद्युम्न और मन्दिर निर्माता इन्द्रद्युम्न में अभेद कल्पना की गई है। साथ ही विष्णु पुराणोक्त ब्रह्मा के वंशज इन्द्रद्युम्न को स्वायंभुव मनु के पाँचवीं पीढ़ी के इन्द्रद्युम्न के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ विष्णु पुराण के साथ इन्द्रद्युम्न का सामंजस्य रखते हुए महाभारत के वनपर्व के 114वें अध्याय में वर्णित महावेदी को 'अन्तर्वेदी' के नाम से अभिहित कर इन्द्रद्युम्न चरित के साथ एकांगी भाव की कल्पना की गई है। फलस्वरूप महाभारत के इन्द्रद्युम्न ही मन्दिर के निर्माता और दारुब्रह्म के प्रतिष्ठाता हैं, यह प्रमाणित करना आसान हो गया है।

ऐसा करने का कारण भी है। भारतीय पुराणशास्त्रकार लोक व समाज में विश्वास स्थापित करने के उद्देश्य से किसी भी बात या लोकरीति को अत्यन्त प्राचीन होने के कारण अति विश्वसनीय है, कहने के अभ्यासी होते हैं, विशेषकर धार्मिक रीतियों में। दृष्टान्त के रूप में कहा जा सकता है – विद्याधिपति गणपति और धनप्रदात्री महालक्ष्मी ऋग्वेद में ख्याति प्राप्त न होते हुए भी परवर्ती काल में जब पूजे जाने लगे, तब उन्हें अत्यन्त प्राचीन कहकर विश्वास जताने के लिये ऋग्वेद के मंत्रों में उनके नामोल्लेख हैं, ऐसा भी कहा गया। इसलिए कुछ न होते हुए भी नामसाम्य वाले मंत्र या सूत्र उनके लिए उद्दिष्ट हैं, ऐसा प्रचारित होने लगा। फलस्वरूप वैदिक काल के अश्वमेधीय अश्व के छोड़ने के पूर्व पाठ

किया जाने वाला मंत्र 'गणानां त्वां गणपतिं हवामहे' से गणपति शब्द ही लेकर गणनाथ के उद्देश्य से गणपति पूजा के मूलमन्त्र के रूप में गृहीत हो गया। यथार्थ में सूक्त 'ब्रह्मणस्पति' या 'वृहस्तति' के लिए उद्दिष्ट है। इसका आद्य मन्त्र है –

''गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनामुपमज्ञवस्तमम्
ज्येष्ठ राजं ब्रह्माणां ब्रह्मणस्पत
आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद साधनम्।''

अर्थात् – ''हे पालनकर्ता, ब्रह्मणस्पति, तुम देवताओं के पति हो, कवियों के कवि हो, उत्कृष्ट अन्नदाताओं में उत्कृष्ट हो, प्रशंसस्य व्यक्तियों में प्रशस्ततम हो। मैं तुम्हें इस यज्ञस्थली पर आवाह्न कर रहा हूँ। तुम आओ और हमारी स्तुतिपाठ सुनते हुए यज्ञ भवन में आसन ग्रहण करो।'' ऐतरेय ब्राह्मण में भी कहा गया है – ''गणानां त्वा गणपतिं हवामहे इति ब्राह्मणस्पत्यम् ब्रह्म हे वृहस्पतिब्रह्मणेवैनं तदभिषज्यति इति।'' ऐतरेय ब्राह्मण के इस क्षेत्र की व्याख्या करते हुए शायनाचार्य कहते हैं – इस सूक्त के प्रथम मंत्र के तीसरे पाद के 'ज्येष्ठ राज', 'ब्रह्मणस्पत', आदि शब्दों के द्वारा जाना जाता है कि यह ब्रह्मणस्पति देवता सम्बन्धी है। उसी तरह से लक्ष्मी के लिए भी। जब महालक्ष्मी ने नारायण की पत्नी के रूप में लोकों में देवता के रूप में प्रसिद्धि पाई, तब उनकी वैदिकता और प्राचीनता को प्रमाणित करने के लिये श्री सूक्त, लक्ष्मी सूक्त, आदि की रचना हुई। उसी प्रकार से जगन्नाथ जी के आख्यान में भी इन्द्रद्युम्न उपाख्यान को संयोजित करके उनकी प्राचीनता का प्रमाण दिया गया प्रतीत होता है। अतः दारुदेवता के साथ इन्द्रद्युम्न उपाख्यान की संयोजना एक पौराणिक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जो भी हो, मन्दिर निर्माण और त्रिमूर्तियों की प्रतिष्ठा के कार्य के लिए मात्र इन्द्रद्युम्न की प्रधानता अधिक परिलक्षित होने के कारण मूल दारु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनके विषय की चर्चा होना उतना प्रासंगिक नहीं लगता।

द्वितीय प्रकाश

दारुदेवता की प्राचीनता और शबर मौलिकता

महाभारत से लेकर स्कन्द पुराण तक लिखित पुराणों में पुरुषोत्तम महात्म्य के सम्बन्ध में कैसी धारणाएँ पोषित हैं, उसकी चर्चा पूर्व परिच्छेद में की गई है। अब उसके बारे में इतिहासकार किन प्रमाणों को स्थापित करते हैं, यह विचारणीय है। जगन्नाथ जी के बारे में अन्वेषण कर किसी सिद्धान्त पर पहुँचने वाले इतिहासकारों को मूलतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक ओर जनरल कनिंघम्, प्रोफेसर बिलसन, डॉ. हरेकृष्ण महताब, जेम्स फर्गुसन, फ्रांसीसी गवेषक लुईस रोविट, श्री एन. एन. बोस आदि शोधकर्ता बुद्ध धर्म सम्बन्धी 'त्रिरत्न' से जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा, इन तीन मूर्तियों की उत्पत्ति की सूचना देकर जगन्नाथ जी को बौद्ध धर्म के प्रतीक के रूप में प्रतिपादित करते हैं। इनका सर्वसम्मत और प्रमुख तर्क है – बौद्ध धर्म का प्रधान चिह्न हैं त्रिरत्न – बुद्धो, धम्मो और संघो।

इसका रहस्यार्थ है, बुद्ध कहने से पुरुष, धर्म कहने से प्रकृति और संघ कहने से इन दोनों का संयोग। प्रत्नतत्वविद् अलेक्जेंडर कनिंघम् (Alexander Cunningham) ने अपनी प्रख्यात कृति ''भिलसा टॉपस् (Bhilsa Topes) और बरहुत स्तूप (The Stupa of Bharhut)'' में पहले सही मर्म से राय दी थी। बाद में इतिहाकारों ने विषय प्रसंग की मौलिकता की ओर अधिक दृष्टि डालकर इस मत के बलशाली तर्क के भुलावे में आकर उसकी एक तरह से पृष्ठ पोषकता की। ईस्वी सन 194 तक यह मत पल्लवित पुष्पित होकर एक प्रकार से स्थिर सिद्धान्त के रूप में गृहीत हो चुका था। अतः डॉ. हरेकृष्ण महताब ने अपने 'ओडिशा इतिहास' ग्रन्थ में त्रिरत्न प्रतीक किस भाँति कालक्रम से जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा बने, इसके प्रमाणस्वरूप चित्रों का संयोजन किया है। साथ ही अशोक की कलिंग विजय से लेकर श्री चैतन्य तक ओड़िशा के धार्मिक इतिहास के क्रम–विवर्तन के बारे में पाण्डित्यपूर्ण चर्चा करके भिन्न–भिन्न काल में किस तरह अलग–अलग धर्माचरण जगन्नाथ जी की पूजा रीतियों में शामिल किए गये हैं, उस पर भी उन्होंने विचार विश्लेषण किया है। पर उन्होंने मूल कथ्य कहते समय संदिग्ध मन से कहा है – ''पहले तीन विग्रह होंगे। प्रधान मूर्ति को जगन्नाथ कहा जाता था। तीनों मूर्तियों के बीच की मूर्ति नारी है, ऐसी कल्पना की जाती थी।'' इसके उपरान्त उन्होंने कहा है – अशोक के समय ओड़िशा के शबर बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए थे। पुरी में बौद्ध स्तूप का निर्माण भी हुआ था और उस पर बौद्ध त्रिरत्न प्रतीक स्वाभाविक रीति से क्रमानुसार अंकित हुए थे। ईसा पूर्व पहली सदी में या ईस्वी पहली सदी में जब महायान प्रवर्तित होकर बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा के रूप में प्रारम्भ हुआ, तब सरल शबरों ने भी स्तूप पर अंकित त्रिरत्न प्रतीक की पूजा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन पारिवेशिक तर्कों को उपस्थापित किया है, उनका मर्म इस प्रकार है – (1) बुद्धदेव का एक नाम है जगन्नाथ। यह नाम प्राचीन पालि और नेपाल से प्राप्त तन्त्र साहित्य में भी उपलब्ध है। (2) एलोरा पर्वत पर उत्कीर्णित एक बुद्ध मूर्ति का नाम है जगन्नाथ। (3) बौद्ध धर्म में 'धर्म' नारी के रूप में कल्पित है और संघ के साथ एक–दूसरे से भाई–बहिन का सम्बन्ध बौद्ध धर्म का नियम है। (4) रथयात्रा बौद्ध पूजा

विधान का एक प्रमुख अंग है। यह फाहियान के द्वारा वर्णित खोटान में अनुष्ठित रथयात्रा के साथ तुलना की दृष्टि से पूर्णतः समान है। अतः यह बौद्ध धर्म के अवशेष हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

दूसरे पक्षधरों में आलोचक पीटरसन, इतिहासकार मनमोहन गांगुली, अध्यापक प्रभात मुखर्जी, महामहोपाध्याय पंडित सदाशिव मिश्र, पंडित सूर्य नारायण दास, आदि ने मुख्यतः ऐतिहासिक ढंग से आध्यात्मिक चिन्तन का आश्रय लेकर जगन्नाथ जी को ब्राह्मण्य धर्म के देवता के रूप में प्रमाणित किया है। गांगुली महोदय का अनुमान है, बौद्ध धर्म के त्रिरत्न प्रतीक का उद्‌भव उपनिषदोक्त ऊँकार अर्थात् अ–उ–म् है। अतः जगन्नाथ, सुभद्रा और बलभद्र इन तीन मूर्तियों का मूल कहा जाने वाला 'त्रिरत्न' प्रतीक मूल ऊँकार होने के कारण इन तीनों मूर्तियों को ब्राह्मण्य धर्म का प्रतीक कहना अधिक तर्कसंगत लगता है। स्टर्लिंग का भी कहना है – पीटरसन नामक एक अंग्रेज लेखक इस मतवाद के प्रचारक हैं। अवश्य बौद्धवादियों की तरह इसमें त्रिमूर्तियों के कोई आकृतिगत सामंजस्य प्रदर्शित नहीं हुए हैं, फिर भी इसे एक आध्यात्मिक धारणा के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता है।

महामहोपाध्याय पंडित श्री सदाशिव मिश्र ने जगन्नाथ धर्म और संस्कृति की कई दृष्टिकोण से चर्चा कर प्रमाणित किया है कि जगन्नाथ बुद्ध नहीं है। वे केवल ब्राह्मण्य धर्म के देवता हैं। पंडित श्री सूर्यनारायण दास जी के जगन्नाथ मन्दिर और क्षेत्र की प्राचीनता के बारे में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से व्यक्त विचारों के बाद भी अंत में लगता है कि वे पुराण और किंवदन्ती पर अधिक आस्थावान हुए हैं।

परन्तु अध्यापक प्रभात कुमार मुखर्जी ने जगन्नाथ जी को ब्राह्मण्य धर्म के प्रतीक के रूप में प्रमाणित करने के लिए एक पाण्डित्यपूर्ण शोधकार्य सम्पन्न किया है। इसके लिए उन्होंने विविध प्राचीन पोथियों, उदाहरण के लिए छान्दोग्योपनिषद, अष्टाध्यायी सूत्र, The Indica of Megasthe, तैतिरीय, आरण्यक, पातंजली महाभाष्य, आदि के साथ घोषण्डी शिलालेख, वेशनगर स्तंभलिपि, नानाघाट गुहालिपि, आदि प्राचीन अभिलेखों की भी विस्तृत चर्चा की है। अन्त में कृष्ण वासुदेव उपासना ही जगन्नाथ उपासना का मूल है, इस सिद्धान्त पर वे पहुँचे हैं। इस उपासना का प्रसार बौद्ध धर्म के काफी पहले हो चुका था। वराहमिहिर की वृहतसंहिता में कृष्ण–बलराम के मध्य स्थित ''एकानंशा'' देवी का वर्णन है। वे सुभद्रा के अलावा और कोई हो नहीं सकतीं। बाद में बुद्ध त्रिरत्न उपासना का प्रभाव जगन्नाथ उपासना पर पड़ा है, पर सुभद्रा ''भगिनी स्त्री प्रवर्तिका'' है, अतएव जगन्नाथ उपासना ब्राह्मण्य धर्म के अलावा किसी और धर्म की नहीं हो सकती।

उपर्युक्त द्विविध सिद्धान्तों के अतिरिक्त और एक तरह की धारणा भी दृष्टिगत होती है। इस धारणा के धारक हैं मनीषी पंडित नीलकंठ दास, इसके पृष्ठ पोषक के रूप में ऐतिहासिक विद्वान श्री केदारनाथ महापात्र, पंडित श्री विनायक मिश्र, पंडित श्री बानाम्बर आचार्य, आदि हैं। इनके मतानुसार जगन्नाथ जी जैन धर्म के प्रतीक हैं। श्री केदारनाथ महापात्र का अनुमान है कि पुराण और किंवदन्ती वर्णित इन्द्रद्युम्न एक जैन धर्मावलम्बी राजा थे। हो सकता है कि उन्होंने केवल जगन्नाथ जी की मूर्ति की प्रतिष्ठा की हो। उनके मतानुसार ऐतिहासिक ऐर खारवेल को इन्द्रद्युम्न के रूप में स्वीकार

करने के कई कारण हैं। पंडित श्री विनायक मिश्र ने पहले खारवेल ही इन्द्रद्युम्न है, ऐसी सूचना दी थी। वर्ष 1958 में भुवनेश्वर में अनुष्ठित शारला जयन्ती के अवसर पर पंडित बानाम्बर आचार्य ने जगन्नाथ जी को जैन धर्म के उपास्य के रूप में प्रतिपादित किया था। परन्तु इन मतों में एक विशेष महत्व यह है कि इसमें पुराण, किंवदन्ती और इतिहास का विधिवत सामंजस्य पाया जाता है। अतः पुराण प्रसिद्ध इन्द्रद्युम्न चरित के साथ ऐतिहासिक ऐर खारवेल के वृतान्त में ऐक्य प्रतिपादन के लिए खारवेल की पद्म पुराण वर्णित शबर बालक के रूप में कल्पना की गई है। कुछ भी हो, जगन्नाथ की पूजा में शबरों के आदिम अधिकार को स्वीकारना इस मत के अनुसार एक शुभ लक्षण ही है।

ऊपर रचित तीन ऐतिहासिक सिद्धान्तों में से अन्तिम मत अधिक बलिष्ठ और व्यापक लगता है। अवश्य इसमें भी मूल विषय का कोई महत्व नहीं है, फिर भी उसका बीज है। इस पर यथास्थान चर्चा होगी। पर फिलहाल आलोच्य है, वह मूल विषय क्या है ? उसकी उत्पत्ति कब हुई ? यह दारु या वृक्ष है, इसमें कोई मतान्तर नहीं है। विश्व के आदिमतम ग्रन्थ ऋग्वेद संहिता से लेकर शिशुकृष्ण दास की ''देउल तोला'' तक सभी ग्रन्थों में पूर्वी सागर तट पर एक महादारु पूजे जाने का वर्णन है। पालि जातक में भी वृक्ष देवता की उपासना का उल्लेख है।

क. आदिमतम ग्रन्थ ऋग्वेद में समुद्र के तट पर एक अपुरुष दारु के पूजे जाने का उल्लेख है –

''अदो यद्दारु प्लवते सिंधोः पारे अपुरषम्

तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्।''

ख. कपिल संहिता में है – नीलांचल क्षेत्र में दारुब्रह्मरूपी देवता अधिष्ठित हैं –

''क्षेत्र नीलाचलं पुण्यं दारुब्रह्मस्वरूपिणः।''

ग. ब्रह्म पुराण में पुरुषोत्तम ''सनातन वट वृक्ष'' के रूप में पूजित होते आए हैं, ऐसा उल्लेख है –

''प्राप्तवान तत्पदं दिव्यां महाप्रलय कारणं

पुरुषोशमिति ख्यातं वट राजं सनातनम्।''

घ. स्कन्द पुराण में दारुमूर्ति का महात्म्य वर्णित होने के साथ–साथ श्रुति में भी दारु उपासना का प्रसंग है। उस दारु की उपासना से मुक्ति मिलती है, और भी, जो दारु पूजित होता आया था, वह 'एकक' था, 'अनेक' नहीं। परवर्तीकाल में अवश्य उसे हम त्रिधा, यहाँ तक की चतुर्धा के रूप में उपस्थित होने का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं।

ङ. पालि जातक में भी वृक्षदेवता का नाम उपलब्ध है। अवश्य उसमें ''मूर्ख वृक्षदेवता'' का उल्लेख है। जातकों की धर्मभित्तिक गाथा होने के कारण दूसरे धर्म के देवताओं को नीचा दिखाते हुए कहानियाँ रचित होना स्वाभाविक है। चाहे जो भी हो, वृद्ध जातक के पहले मूर्ख हों या पंडित, इसमें कोई संदेह नहीं कि वृक्षदेवता का अस्तित्व था।

च. मादलापांजि पढ़ने से पता होता है कि बाहरी आक्रमण से रक्षा करने के लिए दारुदेवता को अनेक बार स्थानांतरित होना पड़ा है। कभी कभार तो लुप्त या अस्त भी होना पड़ा है। फिर जब पुनः प्रतिष्ठा हुई है, तब

पारम्परिक सूत्र से मूर्ति निर्माण के लिए दारु को ही खोज कर लाया गया। वही परम्परा सबसे पहले मूर्ति निर्माण के लिए पालित हुई होगी क्योंकि भारतीय मनोभाव जिस प्रकार से परम्परा की रक्षा के लिए तत्पर रहता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। अतः कह सकते हैं, वहाँ त्रिमूर्तियों के निर्माण से पहले भी दारुपूजा होती थी।

छ. सारला दास के महाभारत में इन्द्रद्युम्न के आने से पहले वहाँ दारुदेवता उपासित होते आ रहे थे, इसका स्पष्ट उल्लेख है। शबरी चन्दन वन के अन्दर विप्र की आँखों पर पट्टी बाँधकर ले जाकर दारुब्रह्म को दिखाने के बाद उस ब्राह्मण ने राजा इन्द्रद्युम्न के पास जाकर कहा – ''दारुब्रह्म मूर्ति मुं देखिलि बोलिब, यमनिक बने एबे चालंतु हे देव'' और उसके बाद राजा को रास्ता दिखाते हुए ले आया।

इससे निश्चित किया जा सकता है कि त्रिमूर्ति उपासना के पहले नीलगिरि पर दारुपूजा प्रचलित थी। त्रिमूर्ति उपासना के बारे में कोई कुछ भी और कैसे भी क्यों न कहे, सभी इतिहासकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह स्वीकार करते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से दारुपूजा या जगन्नाथ जी की पूजा चली आ रही थी और उसके साथ शबर जाति का मौलिक सम्बन्ध था।

जगन्नाथ धर्म के विशेषज्ञ पंडित नीलकंठ दास ने यथार्थ अनुमान कर कहा है कि इन्हीं जगन्नाथ जी को लेकर भी भारत अति प्राचीन काल से विश्व में परिचित होता आया है। प्राचीन बेबीलोन तथा परवर्तीकाल में अरब–पारस्य के खलीफाओं के शासन काल में स्थिति क्या थी, जगन्नाथ का उस समय क्या परिचय था, यह बताने के लिए विशेष प्राचीन तथ्य तो नहीं मिले हैं, परन्तु इससे यह तो ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन बेबीलोन सभ्यता के समय जगन्नाथ का अस्तित्व था। उस समय शबरों के अलावा उनके कोई और उपासक नहीं थे। इस बात को भी पंडित जी ने स्वीकार किया है।

विशिष्ट इतिहासकार श्री गुरुदास सरकार ने अपनी प्रसिद्ध कृति ''मन्दिरेर कथा'' ग्रन्थ में अति प्राचीन काल से जगन्नाथ शबरों के द्वारा पूजे जाते रहे हैं, कहने के लिए अधिक तर्क दिए हैं। उनका कहना है कि आज तक यही प्रसिद्धि पाती आई है और जिन के वंशज विन्ध्याचल से महानदी तक विस्तृत भूमि पर निवास करते आए हैं, उन शबरों की किसी शाखा या उपशाखा के साथ जुड़े हुए किसी प्रतीक का ब्राह्मणों के द्वारा ''जगन्नाथ'' के नाम से अभिहित होकर देवता के रूप में स्वीकृत होना कोई असम्भव बात नहीं है। और परवर्तीकाल में बौद्धों के प्रभाव से पुरुषोत्तम स्व श्री मन्दिर में बौद्ध उपासना पद्धति का प्रवेश भी अस्वाभाविक नहीं लगता है। श्री श्री जगन्नाथ शायद आदिम शबर जाति से ''उधार में लाए'' देवता होने के कारण ही पुरी तीर्थ में अकेले बौद्ध प्रभाव ही नहीं, परवर्ती काल में रामोपासना और गाणपत्य मतवाद भी उसमें कमवेशी प्रतिष्ठित हुआ, इसमें सन्देह नहीं है।

इतिहासकार श्री मनमोहन गांगुली ने भी जगन्नाथ जी को प्रागैतिहासिक युगीन के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है – बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और विकास से पहले से ही पुरी क्षेत्र की पवित्रता और ख्याति के बारे में सन्देह करने की कोई बात नहीं है। फिर भी यह स्वीकार्य है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव से जगन्नाथ धर्म और उपासना अनेकांश में

परिवर्तित हुई है।

इतिहासकार श्री केदारनाथ महापात्र ने अपने ''इन्द्रद्युम्न किंवदन्ती पर ऐतिहासिकता'' शीर्षक निबन्ध में लिखा है – जगन्नाथ जी को शबर देवता कहने के भी कई कारण हैं। पुरी इलाके में पहले शबरों का भी निवास था। वे अरण्य के अन्दर अपना धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे।

पंडित सूर्यनारायण दास जी ने अपने ''श्री जगन्नाथ मन्दिर'' ग्रन्थ में नीलमाधव प्रसंग में लिखा है – इससे पता चलता है कि सृष्टि के आद्य से नारायण की आराधना की धारा नीलगिरि में प्रवाहित थी। नीलमाधव का अन्तर्ध्यान और जगन्नाथ मूर्तियों के आविर्भाव के कारण मध्यवर्तीकाल में अवश्य यह धारा सामान्य खण्डित हुई थी। इस वाक्य में ''सृष्टि के आद्य से'' का अर्थ ''सभ्यता के प्रारम्भ से'' होगा।

पाश्चात्य आलोचक विलकिन्स (Wilkins) महोदय का कहना है – The probability being that the Jagannath was the local divinity of some, now unknown tribe, whose worship was engrafted into Hinduism and the God when admitted into the pantheon was regarded as another menifestation of Vishnu. अर्थात् जगन्नाथ किसी एक स्थानीय गोष्ठी के देवता के रूप में पूजे जाते थे। बाद में उन्हें हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कर 'विष्णु' का अवतार माना गया।

अध्यापक प्रभात मुखर्जी ने जगन्नाथ जी को ब्राह्मण धर्म के देवता के रूप में प्रमाणित करने के लिए उसे कृष्ण वासुदेव उपासना का परिवर्तित रूप कहने के बाद भी प्राचीन काल से प्रचलित शबरों की दारुदेवता की मौलिक उपासना को नकारा नहीं है। उनका कहना है कि ऐतरेय ब्राह्मण और पंचविंश ब्राह्मण, आदि वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों में शबरों के बारे में उल्लेख पाए जाते हैं। अनुमान है कि जगन्नाथ की शबर मौलिकता ही उनके विकृत रूप का प्रमुख कारण है। आदि मानव के मन में भय के माध्यम से धार्मिक विश्वास को स्थान प्राप्त हुआ था। भय कहने से और किसी का भय नहीं, विपदा के प्रति भय, मृत्यु और अनाहार का भय। उस समय की इन्हीं भयप्रद वृत्तियों ने मूर्तियों के निर्माण से लोगों को परिचित कराया।

इससे ज्ञात होता है कि कृष्ण वासुदेव उपासना के काफी पहले से शबरों के द्वारा एक प्राथमिक–सभ्यतासुलभ वस्तु की उपासना चली आ रही थी।

डॉ. हरेकृष्ण महताब ने जगन्नाथ कृष्ण वासुदेव उपासना मूलक नहीं हैं, कहने के साथ–साथ कनिंघम् के मतानुसरण से जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा, ये त्रिमूर्तियाँ बौद्ध त्रिरत्न हैं, कहने के लिए कई प्रमाण भी दर्शाए हैं। फिर भी जगन्नाथ उपासना के साथ शबर के मौलिक सम्बन्धों को लेकर वे उदासीन नहीं रहे। उन्होंने लिखा है – ''यह स्तूप शबरों का श्रेष्ठ पूजापीठ था।'' ईसा पूर्व पहली सदी में या ईस्वी पहली सदी में जब महायान पन्थ प्रवर्तित होकर बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा का प्रारम्भ हुआ, तब सरल–प्राण शबरों ने स्तूप के त्रिरत्न चिह्न की पूजा की। उसका युगकाल

या धार्मिक सिद्धान्त चाहे कुछ भी हो, कभी न कभी शबरों के द्वारा ही जगन्नाथ की उपासना का प्रारम्भ हुआ था, यही सत्य है।

अध्यापक डॉ. नवीन कुमार साहू ने अपनी पुस्तक History of Orissa में लिखा है – The very origin of Jagannath proclaims him not less than the God of Brahmins than of low caste aboriginal races. अर्थात् जगन्नाथ को ब्राह्मण्य धर्म के देवता कहने से अधिक प्रामाणिकता उन्हें आदिम शबर समुदाय के देवता कहने में है।

इन सारे ग्रन्थों के अलावा तात्विक दृष्टिकोण से विचार करने पर भी जगन्नाथ आदिम शबरों के देवता हैं, और किसी के नहीं हैं, ऐसा ज्ञात होता है। इस प्रसंग में जगन्नाथ के सेवायतों में 'दयिता' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'दयिता' शब्द 'दैत्य' शब्द का अपभ्रंश है। 'दैत्य', 'शबर' और 'भील' ये सब एक पर्यायवाची शब्द हैं। पौराणिक इन्द्रद्युम्न द्वारा त्रिमूर्ति की प्रतिष्ठा करने के पहले ये ही जगन्नाथ जी के उपासक थे। अब भी दयिता सम्प्रदाय अपने को शबरों के वंशज के नाम से परिचित कराता है। इस तथ्य को इतिहासकार भी स्वीकारते हैं। रथयात्रा के प्रारम्भ से बाहुड़ा यात्रा की पूजा का दायित्व इन पर रहता है। दारुविग्रहों के सभी पूजाधिकार इस अवधि में मात्र इनका होता है, और किसी का भी नहीं ? इसका कारण अत्यन्त स्पष्ट है। जगन्नाथ जी यदि शबरेतर धर्म के होते, तब उन जैसे देवता का पूजाधिकार शबरों को नहीं सौंपा जाता। यहाँ शबरों ने या शबरवंशियों ने बलात् अन्य धर्म पर अपना अधिकार जमाया है, कहना भी तर्कसम्मत नहीं लगता। पुरातन काल से ही शबर पीड़ित होते आए हैं, परन्तु उनके अत्याचारी होने का कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता है। वरन् दूसरे धर्म, सम्प्रदायों द्वारा उनके धार्मिक आचार पर हस्तक्षेप करके धर्म, भाषा, संस्कृति को अपनाने के अनेक दृष्टान्त पाए जाते हैं। इसलिए जगन्नाथ जी अब के 'दयिता' सम्प्रदाय के पूर्वज 'शबर' सम्प्रदाय के देवता थे, कह सकते हैं। बाद में दूसरे धर्मों के प्रभाव से मन्दिर में शबरों का सेवाधिकार च्युत होने लगा। फिर भी उसके स्मृतिचिह्न के रूप में मन्दिर के बाहर देवता की आराधना का अधिकार उन पर सौंपा गया है।

इसके अलावा एक और दृष्टिकोण से विचार करने पर भी यही तथ्य ज्ञात होता है। त्रिमूर्ति निर्माण से पहले वहाँ जगन्नाथ या नीलमाधव की उपासना प्रचलित थी, इसमें द्विमत नहीं है। जगन्नाथ दारुदेवता हैं, यह भी स्वीकार करते हैं। अतः जो दारु उपासित होता आ रहा था, उसकी उपासना कौन करता था ? यह सत्य है कि वैदिक आर्य उसके उपासक नहीं थे। ऋग्वेद में दारुदेवता के सम्बन्ध में कोई सूक्त नहीं है। इन्द्र, वरुण, सवितृ, उषस, अग्नि, आदि देवताओं के अतिरिक्त किसी और का नामोल्लेख नहीं है। दारुदेवता का तो कतई नहीं। वरन् आर्यस्तुति इन्द्रादि देवताओं के लिए प्रार्थना करने की बात वेद में है। विशेषतः दारुदेवता की उपासना में जातिभेद–विचार–शून्यता ही प्राणकेन्द्र में है। इसमें ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र विचार बिल्कुल नहीं है। वैदिक आर्यों में चतुर्वर्ण का विचार था, यह वेद ही से विदित होता है। वह ''गुण कर्म विभागशः'' था, या परम्परागत था, यह स्पष्ट नहीं है। मान लें कि यह ''गुण कर्म विभागशः था, अतः

जाति–वर्ण–भेदशून्य दारु उपासना चतुर्वर्ण आर्यों की नहीं हो सकती। वैदिक आर्यों द्वारा कोई मूर्ति या संकेत सामने रखकर पूजा करने का कोई प्रमाण ऋग्वेद में नहीं है। मूर्ति पूजा ही नहीं, वैदिक ऋषियों को 'पूजा' शब्द तक ज्ञात था कि नहीं, यह भी संदेहास्पद है। 'पूजा' शब्द मूलतः द्रावड़ीय है। बाद में उसका आर्यकरण हुआ है। देवताओं की स्तुति, स्तोत्र, होम, आदि के द्वारा सन्तुष्ट करने के अलावा उन्हें और कुछ ज्ञात नहीं था। उनके देवता सर्वोत्कृष्ट देवता हैं। उनके अलावा किसी और की पूजा निरर्थक है। मात्र वही नहीं, समुद्र के पार पूजे जाने वाले 'अ–पुरुष' अर्थात् पुरुष से भिन्न दारु के काटने से 'परमस्थान' की प्राप्ति होगी, ऐसा ऋग्वेद में उल्लेख है, यह पंडितों का मत है। कहा गया है –

''अदो यद्दारु प्लवते सिंधों पारे अपुरुषम्

तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्''

इसके भाष्यरूप में शायनाचार्य ने लिखा है – ''अदः विप्रकृष्ट देशे वर्तमानं अपुरुषमं निर्मात्रा पुरुषेण रहितं यद्दारु दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवताशरीरं सिन्धोः पारे समुद्रतीरे प्लवते जलस्योपरि वर्तते तद्दारु हे दुर्हणों दुःखेन हननीय केनापि हंतुं अशक्य हे स्तोतः आरभस्व आलम्वस्व उपास्वेत्यर्थः। तेन दारुमयेण देवेनोपास्यमानेन परस्तरं अतिशयेन तरणीयं उत्कृष्टं वैष्णव लोकं गच्छ। अपर आह हे दुर्हणो दुःखेन हननीये दुष्ट हनुयुक्ते वा हे अलक्ष्मि सिन्धोः पारे समुद्रतीरप्रांतेऽपुरुषं पुरुषैर्वियुक्तं अदेऽस्मत्तोऽदूरे देशे वर्तमानं यद्दारु दारुमयी नौः प्लवते तद्दारु अरभस्व परिगृहाण। गृहीत्व च दारुणा परस्तरमतिशयेन तरणीयं ब्रह्मास्पतिन प्रेरिता सती द्वीपांतरं गच्छ।''

उपर्युक्त दो प्रकार की व्याख्याओं से लगता है कि इस मंत्र का सही अर्थ समझाने में स्वयं शायनाचार्य को सन्देह है। यदि ऐसा न होता तो ''अपरआह'' कहकर फिर और तरह से व्याख्या लिखने का क्या कारण हो सकता है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले इस ''अपरआह'' की व्याख्या थी। बाद में उसके साथ सहमत न हो पाने और उसमें कुछ कमी रह गई मानकर उन्होंने प्रथम पक्षीय अर्थ बताए, क्योंकि अनुक्रमणी में है 'आरायी' आदि पाँच मन्त्रयुक्त चतुर्थश्लोक सूक्त भरद्वाज–पुत्र शिरिम्विठ का है। यह ऋषिसम्मत और अनुष्टुप छन्द में लिखा हुआ है। यह जप, होमादि के समय अलक्ष्मी नाशक है। उसमें से आद्यप्रान्त दो मन्त्रों में प्रकाशित अर्थ केवल देवता है। द्वितीय और तृतीय मन्त्र 'ब्रह्मणस्पति' के लिए उद्दिष्ट है। पंचम मन्त्र विश्वेदेवात्मक है। इस विचार से आलोचित मंत्र का 'तृतीय' होने के कारण यह ब्रह्मणस्पत्य तथा ''अलक्ष्मी नाशक'' होगा। इसी दृष्टि से ही 'अपरआह' की व्याख्या होना सम्भव है। इसी कारण से 'दुर्हण' शब्द का अर्थ ''दुष्ट हनुयुक्ता अलक्ष्मी'' बतलाया गया है। पर उससे शायनाचार्य के सन्तुष्ट न होने पर ''पुरुषोत्तमाख्य दारुदेवता की उपासना वैष्णव लोक प्राप्ति के समान'' जैसी भावना से भाष्य की रचना हुई है। शायद शायनाचार्य के समय पुरुषोत्तम क्षेत्र स्थित दारुब्रह्म की उपासना ऐसी प्रसिद्धि पा चुकी थी कि उसने मंत्रार्थप्रणेता शायनाचार्य तक को प्रभावित किए बिना नहीं छोड़ा। ऐसा न होता तो उपनिषदयुगीन चिंताधारा को लेकर मूल ऋग्वेद की व्याख्या के साथ जोड़ा नहीं होता, क्योंकि वैष्णव, शैव, गाणपत्य, आदि धर्मवाद ऋग्वेद संहिता के काफी परवर्ती चिन्तन का इतर विशेष ही है। इसलिए जिस भाँति उस मन्त्र के अर्थ प्रकाशन में, 'अपरआह' पक्षीय व्याख्या का शायनाचार्य की दृष्टि से प्रमादपूर्ण होना,

उसी प्रकार शायनाचार्य की व्याख्या को भी सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता है। इसलिए दोनों व्याख्याओं पर विचार कर मन्त्र को इस तरह अर्थान्वित करना शायद अयथार्थ नहीं होगा।

''अदः विप्रकृष्ट देशे वर्तमानं अपुरुषं न पुरुषं पुरुष भिन्नमित्यार्थः सिन्धोः पारे समुद्रतीरे यद्दारु प्लवते दारुत्रयं देवताशरीरं उपास्यते तद्दारु दुर्हणो हे स्तोतः आरभस्व आलम्वस्व स्वकीयं कुरु इत्यर्थ। तेन कर्मणा परस्तरं अतिशयेन तरणीय सिन्धोः अपरपारे स्थितं द्वीपांतरं गच्छ स्वीकायां उपासना पद्धति तत्र विस्तारयेत्यर्थः।''

यहाँ पर 'पुरुष' शब्द पर विचार करना आवश्यक है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह 'दारु पुरुष' की उपासना नहीं है क्योंकि यह अष्टिक प्रटोअष्ट्रलियड वृक्ष उपासना के अवशेष 'दारु उपासना' है। इसके साथ वेदवर्णित 'सहस्रशीर्षा पुरुष' या 'जैन उपास्य पुरुष' का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पूर्णतः 'अ–पुरुष' है। इसकी पूजा करने के पहले इसे अपनाने का प्रयास करो, तब पुरुष उपासना सुदूर में भी फैलेगी। हो सकता है किसी 'पुरुष' की उपासना को इस प्रसंग में आधार माना गया हो। हो सकता है समुद्र के उस पार प्रचलित दारु उपासना को यही पुरुष की उपासना मानकर ऋषि ने कहा है, यह दारु पुरुष नहीं है। उसे पहले पुरुष बनाओ अर्थात् ''पुरुष की उपासना करो। इस पुरुष में 'पुरुषोत्तम' भाव का संकेत लगता है। इसलिए 'परस्तरं' पद के 'वैष्णव लोकं' अर्थ किए जाने पर पूर्वापर कोई सम्बन्ध है, ऐसा नहीं लगता। अतः लगता है, दारुदेवता का वैष्णवत्व प्रमाणित करने के लिए यह एक वैष्णवी व्याख्या है।

इस तरह प्रमाण के रहते दारुदेवता को वैदिक आर्यों के उपास्य कहना यर्थार्थ नहीं लगता।

वैदिक आर्य समुदाय के अतिरेक प्राचीन काल में एक और शबरेतर समुदाय के बारे में इतिहास से ज्ञात होता है। वे द्रविड़ हैं। वैदिक साहित्य में उन्हें असुर कहा गया है। उस काल में असुर पृथ्वी, आदि तीनों लोकों में नगर निर्माण करके उसके चारों ओर सुदृढ़ प्राचीर और द्वार से परिवेष्ठित किया करते थे। उनका धार्मिक विश्वास भिन्न था। वे नाग, मकर, हाथी (हाथी के मस्तक वाले गणेश जी) आदि की देवता के रूप में पूजा करते थे।

Zoomorphic या जीव उपासना उनकी धर्म–धारणा के रूप में प्रचलित थी। वह उन्होंने शायद प्रटोअष्ट्रेलियड (शबरों) के Totemism या संकेतवाद से अपनाया था। मोहन जोदड़ो के समय जो धार्मिक धारणा प्रचलित थी, वह मातृका पूजा या लिंग पूजा के अलावा और कुछ नहीं है। इसके अतिरेक वे वृषभ–मनुष्याकृति वाली प्रतिमा की भी पूजा करते थे, ऐसा तद्विदों का कहना है। उसमें वृक्ष की पूजा भी प्रचलित थी, ऐसा पंडितों का अनुमान है। शायद वही जीवोपासनावाद Totemism शबरों के Totemism या संकेतवाद का मूल संकेत वृक्षोपासना से मिला था। यही जीवोपासनावाद आदिम मिस्रीय सभ्यता में भी था, ऐसा पंडित कृपासिन्धु मिश्र का कहना है। धर्मतत्वविदों के अनुसार अनेक उपासना की धारा Polythism एक ही उपासना स्रोत से उत्पन्न हुई है। मनुष्य ने जब सभ्यता के आलोक का स्पर्श तक नहीं किया था, तब यही एकक उपासनावाद Fetishism ही प्रचलित था। जब उसने सभ्यता की क्षीण स्पर्शानुभूति पाई, तब अनेक उपासनावाद Polythism का बीजारोपण हुआ। अर्थात् तब सामूहिकता का बोध धीरे–धीरे

जागृत हुआ और फलस्वरूप लोगों में पारस्परिक सम्बन्धों की प्रतिष्ठा होने लगी। यही तत्व पुराण वर्णित शबर के उपास्य गुहानिवासी एकक देवता का अन्तर्ध्यान होना और बाद में अनेक उपासनावाद के प्रतीक रूपी त्रिमूर्ति स्थापना की गाथा में छिपा हुआ है, ऐसा लगता है। इसलिए कहा जा सकता है, सभ्यतारम्भ के समय के दारुदेवता की उपासना शबर ने बस शुरू ही की थी।

एक और दृष्टिकोण से विचार करने पर भी जगन्नाथ के शबरतत्व का पता चलता है। जगन्नाथ तत्व के आलोचक डॉ. हरेकृष्ण महताब कहते हैं – 'जगन्नाथ' शब्द का प्रयोग किसी भी प्राचीन पुराण या अभिलेख में विष्णु के पर्यायवाची शब्द के रूप में नहीं हुआ है। सातवीं या आठवीं सदी के बज्रयानी कवि इन्द्रभूति के 'ज्ञानसिद्धि' ग्रन्थ के प्रारम्भ में ''प्रणिपत्य जगन्नाथ सर्वजीन वरार्जितं'' के रूप में आद्यप्रयोग की सूचना मिलती है। उसके बाद तंत्रसार, आदि ग्रन्थों में उसका विष्णु के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग देखा जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि 'जगन्नाथ' शब्द का मूल बौद्ध है। विशेषकर एलोरा में पर्वतखोदित एक मन्दिर का नाम 'जगन्नाथ' है।

पर सूक्ष्मता से विचार करें तो ज्ञात होगा कि न रूप, न नाम से जगन्नाथ बुद्ध हैं। जगन्नाथ अगर बुद्ध का दूसरा नाम होता तो बौद्ध अभिधानकार हेमचन्द्र के अभिधान में या बौद्धधर्मी अमरसिंह के अमरकोष में बुद्ध के पर्यायवाची शब्दों के अन्तर्गत अवश्य ही पाया जाता, पर ऐसा नहीं हुआ है। एलोरा में प्रतिष्ठित मन्दिर का नाम 'जगन्नाथ' है, यह कहीं भी लिपिबद्ध नहीं है। वरन् फ्रांसीसी विद्वान लांलोया (Langlois) ने अपने Les Monuments be L'Hindusthan ग्रन्थ में एलोरा गुफा में लाल रंग के ग्रेनाइड पत्थर पर खोदित जगन्नाथ के नाम से परिचित एक देवमूर्ति की सूचना दी है, पर उसके साथ उत्कल की जगन्नाथ मूर्ति का कोई सादृश्य नहीं है। यह जगन्नाथ *sur ses talons* (on his heels) बैठे हुए हैं, दोनों हाथ जाँघों पर टिके हुए हैं, दोनों ओर जया–विजया नाम की दो नारी मूर्तियाँ हैं। इन दोनों को देखने से जगन्नाथ मन्दिर के प्रवेश द्वार पर स्थित जय–विजय नाम के द्वारपालों की बरबस याद आ जाती है। और अब वही ''एलोरा में आविष्कृत जगन्नाथ की मूर्ति'' जैन कीर्ति के रूप में स्वीकृत भी हो चुकी है, क्योंकि उसी गुफा के अन्दर जैनियों के दूसरे उपास्य देवता महावीर, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ, आदि के चित्र भी अंकित हैं। इसलिए दृढ़ता के साथ जगन्नाथ बौद्ध मूर्ति हैं, कहा नहीं जा सकता है। बौद्ध ग्रन्थों में जैसे ''नमो जगन्नाथ बुद्धाय'' आदि के उल्लेख पाए जाते हैं, उसी तरह तंत्र ग्रन्थों में भी ''सपश्यति जगन्नाथ कमलोरूपत्य हरिं'' आदि के उल्लेख नहीं हैं, कहा नहीं जा सकता, अतः मात्र नाम सादृश्य से किसी सिद्धान्त पर पहुँचना समीचीन नहीं लगता।

इसके अतिरेक 'नाथांत' शब्द भी बौद्धमूलक शब्द नहीं है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में कहीं भी बुद्ध को 'नाथ' के रूप में अभिहित नहीं किया गया है, वरन् यह तो जैन धर्म की एक विशेषता है। दूसरे पर्यायों के समान यह नाम यदि बुद्ध का पर्यायवाची होता, तो उसका पालि रूप 'जगणाहो' होता या उस जैसा कोई और शब्द कहीं न कहीं अवश्य मिलता। और भी यदि जगन्नाथ जी की मूर्ति निर्माण शैली का मूल बौद्ध होता, तो दूसरी बुद्ध मूर्तियों की तरह वह भी हस्त–पदयुक्त

होती, अतः जगन्नाथ न तो बुद्ध हैं, न ही विष्णु, यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

जैसे 'जगन्नाथ' शब्द का मूल पालि नहीं है, वैसे ही संस्कृत भी नहीं। वरन् इसे एक शाबरमूलक शब्द मानना अधिक तर्कसंगत लगता है। लगता है यह शाबर भाषा में व्यवहृत 'जगन्त' शब्द का संस्कृत रूप है। जगन्त शबर देवता हैं। शबर या सौरा भाषा में 'कितुंग' का अर्थ है देवता। 'कितुंग' नाम से कोई निश्चित देवता नहीं है। देवता शब्द जिस तरह साधारण अर्थसूचक है, वैसे ही 'कितुंग' भी साधारण अर्थवाची है। कितुंग के दस रूप हैं, यह शबरों में प्रचलित मान्यता है। कहते हैं – 1. जगन्त, 2. तोड़, 3. तूमन, 4. भीम्, 5. रंरं, 6. गर्सिद, 7. रोमन्, 8. येजेपल, 9. मत, 10. तिति। ये दस भाई हैं। इसे 'जगन्नाथ' के दस अवतारों के मूल माना जा सकता है। सभी कितुंग हैं। कुछेक उत्सवों के अवसर पर दस कितुंगों के विकटाकार चित्र एक घर की दीवार पर बनाए जाते हैं। सभी चित्रों को कितुंग के भिन्न–भिन्न रूप मानकर उनकी पूजा एक ही तरह से होती है।

'कितुंग' शबर जाति के मूल देवता हैं और उन्होंने सभी शबर समुदाय की सर्जना की है, यही सौरा लोग कहते हैं। गाँव के बाहर जंगल के अन्दर एक पेड़ पर कितुंग रहते हैं, यहीं उनमें प्रचलित विश्वास है। जिस वृक्ष को वे जगन्त (कितुंग का नाम विशेष) कहते हैं, उस वृक्ष को, यहाँ तक कि उसी वन के अन्य पेड़ों को वे काटते तक नहीं हैं। इस प्रथा का पालन ओड़िआ भी सर्वान्तःकरण से करते हैं। इससे लगता है कि जिस पेड़ या दारु को उन्होंने 'जगन्त' नाम से आख्यातित किया था और वे उसकी पूजा करते आए थे, बाद में 'जगन्नाथ' शब्द का ही मूल बना।

इस तरह कई अष्टिक शब्द संस्कृत भाषा में अपनाए गये। अथर्ववेद प्रयुक्त 'म्रोक' और कोल्ह भाषा का 'मरुक' (मयूर) इसका प्रकृष्ट दृष्टान्त है। कोल्ह और मुण्डा आदि शबर प्रटोअष्ट्रोलएड् हैं। आर्यों के आने के पर्याप्त पहले वे भारत में निवास कर अपना सामाजिक तथा धार्मिक जीवन बिताते आए थे। उनके द्वारा अनेक अष्टिक शब्द यथा कदली, नारीकेल, कुक्कुट, संस्कृत भाषा में सम्मिलित हो जाने का प्रमाण भाषातत्वविद् बतलाते हैं। इसी भाँति 'जगन्त' शब्द भी जगन्नाथ के रूप में संस्कृत में आया है, इसमें कुछ भी असम्भव नहीं है।

उसके बाद शायद 'कितुंग' में दस भाइयों के स्थान पर जगन्नाथ के दस अवतारों की कल्पना की गई हो। जिस तरह कितुंग रंरं, रोमन्, आदि दस रूपों में अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार जगन्नाथ जी भी अवतारी के रूप में वर्णित हुए हैं। गौड़ीय वैष्णवों के मतानुसार 'कृष्ण' जिस प्रकार सोलह कलाओं से स्वयंपूर्ण हैं और दूसरे सभी उन्हीं के अशांवतार हैं, उसी प्रकार उत्कलीय वैष्णवों के मतानुसार जगन्नाथ जी भी स्वयंपूर्ण हैं। यहाँ तक कि जगन्नाथ जी के ब्रह्मादि देवताओं की स्तुति के कारण और धरती की विनती के कारण देवकी के गर्भ से कृष्ण के रूप में अवतरित होने का वर्णन है। अच्युतानन्द की 'शून्यसंहिता' में है – ''अवतार दश एहि दारु रूप एहि दारु रे से लीन'', अर्थात् ये दारु रूप दस अवतार दारु में ही लीन हैं। पंचसखाओं में अन्यतम यशोवंत दास ने अपने ग्रन्थ ''प्रेमभक्ति ब्रह्मगीता' में जगन्नाथ के अवतारित्व को प्रतिपादित करते हुए यही लिखा है। दिवाकर दास ने भी ''जगन्नाथ चरितमृत'' में कहा है –

''ईश्वर उपरे ईश्वर परम परे परापर, ब्रह्म उपरे ब्रह्म एहि कृष्ण उपरे कृष्ण सेहि

अनादि उपरे अनादि सर्व कारण सर्व सिद्धि, श्री जगन्नाथ श्रीमूरति, एथुटि सर्व उत्पत्ति।''

इसके अतिरेक वृद्ध बलराम ने ''वेदांतसार'' में, दीनकृष्ण दास ने ''नाम रत्न गीता'' में, जगन्नाथ दास ने ''षोहल चउपदी'' में इसी को प्रतिपादित किया है। इससे समझा जाता है कि अवतारी जगन्नाथ ने शबरों में कितुंग की तरह प्रत्येक युग में अवतार ग्रहण कर धरती को संकट से उबारा है। और भी, जंगल में एक दारु को शबर जगन्त कहते हैं। जगन्नाथ भी दारुब्रह्म या दारुदेवता हैं। इसी से जगन्नाथ जी को विष्णु या बुद्ध का पर्यायवाची शब्द बतलाने से कहीं अधिक उचित होगा कि यह शबर देवता कितुंग के पर्यायवाची 'जगन्त' शब्द का संस्कृत रूप माना जाए।

पुनश्च पुरातत्वविदों का कहना है कि निग्रिटों (Nigreto) ने पहले भारतवर्ष में प्रवेश किया था, यद्यपि उनके विशेष अवशेष का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उनकी भाषा और संस्कृति का प्रभाव परवर्तीकाल में प्रटोअष्ट्रलिएड या मुण्डा–कोल्ह परिवार अर्थात् शबर भाषा–भाषियों में परिलक्षित होता है। निग्रिटों की ''पिप्पल वृक्षोपासना'' (Cult of Ficus Tree) प्रचलित थी।

उसका अवशेष प्रटोअष्ट्रेलिएड तथा मोहन जोदड़ो संस्कृति में पाया जाता है। जिस प्रकार से 'बादुड़ी' शब्द प्रटोअष्ट्रेलिएड से गुजरते हुए आर्य भाषा परिवार में प्रविष्ट हुआ है, उसी प्रकार ''पिप्पल वृक्षोपासना'' शबर संस्कृति के माध्यम से आर्य संस्कृति में आई है। इण्डोयूरोपियन आर्य संस्कृति में नाना प्रकार की उपासनाएँ जाल की भाँति बिछी होने के कारण ''पिप्पल वृक्षोपासना'' का स्पष्ट पता नहीं चलता, फिर भी शबर संस्कृति में वह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। अब भी पारलाखेमुण्डि के अरण्यांचल में जिरंग, किम्बसीं, जुजलिंग, आदि सौरा पिप्पल वृक्ष को देवता के रूप में विश्वास करते हैं। वे बेचते या खरीदते समय विश्वास के प्रमाण के रूप में एक पिप्पल का पत्ता हाथ में लिए बिना चलते नहीं। कुछ तय करते समय क्रेता या विक्रेता में से एक न एक पिप्पल के पत्ते को हथेली पर लेकर उस पर पलीता जलाता है। दूसरा एक और पत्ता लेकर उस पर ढक देता है, तब जाकर सौदा पूरा हुआ माना जाता है। इसके अतिरिक्त निविड अरण्य में कोई भी शबर पिप्पल पेड़ पर, चाहे वह सूखा ही क्यों न हो, कभी भी न उस पर चढ़ता है, न ही उसे काटता है। इसका कारण जानने के लिए मैंने कई गमांगों से पूछताछ की है, पर वे भी किसी कारण का उल्लेख न करके कहते हैं – ''यह प्रथा हमारे पुरखों से चली आ रही है, जिसका पालन हम भी करते हैं।'' इससे पता चलता है कि पिप्पल उपासना उनकी सिद्ध परम्परा है। निग्रिटों को छोड़कर वृक्ष या दारु उपासना मूलतः प्रटोअष्ट्रलिएड या शबर जाति की है। ''जगन्नाथ उपासना'' दारु उपासना मूलक है, इसलिए वे शबरों के देवता न होकर किसी और धर्म के देवता हैं, कहना अनुचित ही होगा। इसलिए जगन्नाथ जी दारुदेवता के ही रूपान्तर हैं और वे शबरों के मूल देवता हैं, यह हम कह सकते हैं।

तृतीय प्रकाश

शबर जाति का इतिवृत्त और असुर सभ्यता

अब देखना है कि ये शबर कौन हैं और उनके धर्म, संस्कृति और दर्शन का मूल क्या है ? काल के क्रम में किस भाँति अपरापर धर्म और संस्कृति के प्रभाव से बाह्य आवरण में कई प्रकार के विकार दिखाई देने के बाद भी मूल किस प्रकार से अविकृत होकर दारु के रूप में पूजित होता आ रहा है।

तत्वविदों का कहना है – शबर, सांताल, मुण्डा, आदि परवर्ती काल के अलग–अलग समुदाय होते हुए भी सबका मूल वही आदिमतम अष्ट्रिक समुदाय ही है। बाद में ये देश और काल की दूरी के कारण ही निषाद, कोल्ह, भील, सांताल, आदि के रूप में बँट गए हैं। उसे मूल शाबर गोष्ठी कहने से आज के गंजाम, कोरापुट, आदि माल इलाके में बसने वाले सौराओं के अलावा कोई और नहीं है, इसलिए इनके बारे में जानने के लिए भारत के आदिम इतिहास पर दृष्टि डालनी ही होगी।

भारतवर्ष का आदिम इतिहास कहने से मूलतः शबरों के इतिहास को ही समझा जाता है, क्योंकि भारत में आने वाली जातियों में सबसे प्राचीनतम जातियाँ हैं – निग्रो आकृति वाले निग्रोएड़ जाति; जिनका वर्ण काला, चपटी नाक, और मोटे होंठ थे। अफ्रीका महादेश से अरब, ईरान होते हुए इन्होंने पहले भारत में प्रवेश किया था। पेशे से ये शिकारी थे और कंदमूल आदि खाते थे। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार दक्षिण भारत में अब रहने, बसने वाले एरुला, कुरुम्बा, कादिर, आदि समुदाय इनके अवशेष हैं। इनकी भाषा, संस्कृति और सभ्यता में कोई विशेष स्वातन्त्र्य नहीं है। यद्यपि नृतत्वविद इन्हें आदिम आगंतुक जाति मानते हैं, फिर भी आधार तलाशने से इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं पाई जाती या परवर्ती काल के दीर्घकालीन सभ्यता–संघर्ष में इनका कोई आदान–प्रदान नहीं है। पुनश्च अपेक्षाकृत शिक्षित परवर्ती आगंतुक प्रटोअष्ट्रलिएड या शबर समुदाय के साथ इनके सायुज्य मिश्रण ने अपनी मौलिकता का विलोप करने के साथ–साथ दूसरे पक्ष को आदिमतम जाति के रूप में परिचित कराया है। इसलिए कहते हैं – भारतवर्ष का इतिहास कहने से प्रटोअष्ट्रलिएड या शबरों का इतिहास है।

इतिहासकार कहते हैं कि इन भारतीय शबर समुदाय के साथ टाइग्रीस, युफ्रेटीस से लेकर दक्षिण चालडिया में रहने वाले सुदुर सुमेरीय समुदाय और सिंहल निवासी व्येधस (Veddas) समुदाय में समानता थी। इस समुदाय के इतिहास के बारे में कहते हुए भौगोलिकविद प्लिनी साहब ने इन्हें 'सुआरी' और महामति टलेमी ने 'सबराई' नाम से अभिहीत किया है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में 'शबर' का उल्लेख न होने के बाद भी 'शंवर' का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'शबर' जाति का स्पष्ट उल्लेख है। रामायण और महाभारत के समय 'गुह' शबर और 'जारा' शबर, आदि की प्रमुखता वर्णित हो चुकी थी। चाहे जो भी हो, भारतीय आदिम शबर समुदाय विश्व के तत्कालीन दूसरे समुदायों की विचारधारा के साथ समांतरता बनाए रखने में सक्षम हो सका था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः शबर समुदाय भारत का आदिमतम मानव समुदाय है।

परतवर्ती आर्य और आर्येतर समुदायों के भारत में प्रवेश से पहले ही शबरों के पूर्वज अरण्यमय भारतवर्ष की जलवायु को अपना चुके थे और यहाँ के जंगलों से ही पत्थर लेकर उन्हें तराश कर अस्त्र बनाकर पशुपक्षियों के शिकार के द्वारा अपना उदर पोषण किया करते थे और अरण्य में काष्ठ–संघर्ष से उत्पन्न अग्नि को देखकर विस्मयाभिभूत हो जाते थे। इसे किसी अलौकिक शक्तिशाली देवता का कार्य मानकर वे डर जाते थे। उस वादशून्य अरण्य वातावरण में जंगल स्थित द्रुम विशेष को एक कल्याणकारी शक्ति मानकर भय मिश्रित भक्ति करते आए थे। यही जीवोपासना के पूर्व की देव–धारणा है, ऐसा पंडितों का कहना है। वे वन्य वृक्षों के वक्कल, पत्रादि को आजकल के क्षौम की तरह प्रयोग करते थे और वर्षा के समय अंधकार से युक्त गुहाओं में जाकर शान्ति पाया करते थे। कुल मिलाकर उनका सामाजिक और धार्मिक जीवन आज जैसा उन्नत न होने पर भी अत्यन्त अनुन्नत स्तर पर भी नहीं था। उनकी सभ्यता और संस्कृति का विश्लेषण करने पर यही ज्ञात होता है।

दीर्घकाल की अनुभूति से मैं जानता हूँ कि एक तो शबर सभ्यता आहरणप्रिय नहीं है। वास्तव में उस सभ्यता में इस प्रकार की शक्ति नहीं थी या शक्ति का यथार्थ उपयोग हो ही नहीं पाया है, कहना कठिन है। मर्मर पत्थर की तरह वह अपना रंग नहीं बदलती, वरन् संघर्षण और निष्पेषण के द्वारा जो भी चमक है उसे दूसरों ने अपना बना लिया है। बाद में उसे अपना कहकर उसकी मौलिकता के बारे में असिद्ध कल्पनाएँ करने से भी बाज नहीं आए। वृक्षपूजा, दारुपूजा, शिलोपासना, आदि शाबरी प्रथाएँ आर्य या हिन्दू सभ्यता में इस तरह घुलमिल गयी हैं कि उसी के बलबूते पर समय के आगमन के साथ गतिमय होकर कुछेक शाखा–दलों की सृष्टि धारण कर मूल सभ्यता के इतिहास को चुनौती भी दी है। अवश्य इससे दलपतियों की प्रमुख अभिलाषा की पूर्ति नहीं हुई है, फिर भी परवर्तीकाल के भाजक परिवर्तन के लिए उसकी करामात कम नहीं है। इससे समझ में आता है कि शबर परिस्थितियों के वश में आकर कुछ दान तो कर सकता है, पर आदान करना जानता नहीं है।

द्वितीयतः उसकी धारणाएँ भी अद्‌भुत हैं। मानव सुखप्रिय है, वैषयिक दृष्टिकोण से भोग ही सुख है। भोग आयासशून्यता या काया–मन क्लांति रहित आकांक्षा की पूर्ति है। इसी अर्थ में ही योगी, सुखी, आदि शब्दों के उपयोग हुए हैं, पर शबर वह नहीं मानता है। आयासशून्यता या देह तथा मन की क्लांतिरहिता उसके लिए भोग नहीं है। उसके दृष्टिकोण से यह रोग है, अतः इस रोग के भय से अपनी संस्कृति को सम्मिलित करना उसे पसन्द नहीं है। परम्परा की आड़ लेकर इसे पाप और आत्महत्या कहकर उसने इसका परित्याग किया है। फलस्वरूप अन्यान्य के मिश्रित झरने के उसके अन्दर प्रविष्ट न होने के कारण वह निर्मल और निष्कलंक है। इसके बाद भी आहरण और विसर्जन के बिना कई अंशों में वह साधारण व्यवहार के लिए उपयुक्त नहीं हो पाया है।

तृतीयतः शबर का धर्मविश्वास इतना दृढ़ होता है कि उसे भेद पाना आसान नहीं है। उस पर उसकी प्रतयाकर्षण क्रिया इतनी उग्र है कि उस पर प्रहार करने पर अस्त्र ही उछल कर घातक को घायल कर देता है। इसलिए परवर्ती सभ्यता के नवागत धक्के से कभी कभार बौखला जाने पर भी वह कभी आत्मविभोर नहीं हुआ, वरन् सत्कारपूर्वक

यत्किंचित दान देकर अतिथि को विदा किया है। उसने कभी किसी पर स्वतःप्रवृत्त होकर आक्रमण नहीं किया है, अभ्यागत को खाली हाथ लौटाया नहीं है। यही उसकी विशिष्टता है – धर्मवृक्ष।

यह सत्य है कि ऋग्वेद रचना से सदियों पूर्व भारत के बाहर से एकाधिक आर्येतर जातियों ने भारत भूमि पर पदार्पण किया था, यह इतिहासकारों का मत है। आर्यों को उन भारतीय जातियों के साथ सिंधु उपत्यका में संघर्ष करना पड़ा था, यह भी इतिहास में लिपिबद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यही कथा है और इसी से पता चलता है कि आर्यों के भारत आने से पहले एक शक्तिशाली मानव गोष्ठी भारत भूमि पर अपना अधिकार जमा चुकी थी।

अब सवाल यह उठता है कि किस जाति के साथ आर्यों का संघर्ष हुआ था। पहले किस जाति ने भारत भूमि पर अपना अधिकार जमाया था। ऋग्वेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण से यह बात स्पष्ट है कि 'असुर' संज्ञा वाली एक जाति के साथ आर्यों का विवाद हुआ था। ये 'असुर' 'एसीरियनों' के अलावा और कोई नहीं हैं। यह इतिहासकारों की राय है क्योंकि 'एसीरिया' को असुर स्थान कहा जाता है। यही उनका मौलिक वासस्थल है। इसका विस्तार 75,000 वर्गमील में था। ये दुर्द्धर्ष 'असुर' जाति 'सीम' (Shim) की औरस–सन्तान और सेमेटिक परिवार के थे। शायद वे किसी और रास्ते से आर्यों के आने से पहले भारत भूमि में प्रवेश कर चुके थे। वे या उनके वंशजों के द्वारा आर्यों का गतिरोध किया गया था। उन्हें ही शायद 'अनार्य' आख्या से आख्यायित किया गया था।

अनार्यों को पहचानने के लिए 'अनार्य' शब्द का आक्षरिक अर्थ जानना आवश्यक है। 'अनार्य' अर्थात् न–आर्य अर्थात् जो आर्य नहीं है। ऋग्वेद में 'आर्य' शब्द आया है –

''**अरं दासो न मिलहुषे**
कराण्यहं देवामुर्णयेऽ नागाः।
अचेदयदवितो देव आर्यो
गृत्सं राये कवितरो जुनाति।।''

अर्थात् – मैं पापमुक्त होकर, जिस तरह भृत्य अपने प्रभु (आर्य) की परिचर्या करता है, उसी तरह दानशील सर्वगुण सम्पन्न स्वामी (आर्य) वरुण की सेवा करूँगा। स्वामी वरुण स्तुतिकर्ता के सभी अज्ञान को दूर करके ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए अग्रसर कराते हैं।

यहाँ 'आर्य' शब्द का प्रयोग 'परिचरणीय' अर्थात् सेव्य या स्वामी के अर्थ में हुआ है, ऐसा शायनाचर्य अपने भाष्य में बतलाते हैं। यह शब्द यहाँ मध्यमणि के सदृश प्रयुक्त हुआ है। दास अर्थ या स्वामी की जिस प्रकार सेवा करता है, उसी प्रकार आर्य वरुण की 'अरंकराणि' सेवा करूँगा। इसमें स्थित 'अरं' शब्द भी विचारणीय है।

अरं = सेवा, अर्य्य = सेव्य, उसी तरह 'नर्य्य' भी

अभिनो नर्य बसु वीरं प्रयत् दक्षिणम् धिये पूषन्नयुज्महि

''हे पूषन्, लोगों के हित के लिए पूर्वकाल में जो धन का दान देकर आपने दरिद्रता दूर की थी, वह धन हमें

दान करो। उसके द्वारा हम उत्तम गृहपति के रूप में कालतिपात करेंगे।'' इस मंत्र में जिस प्रकार हितार्थ में 'नर' शब्द से 'नर्य' हुआ है, उसी प्रकार योग्य अर्थ में 'अर' शब्द से 'अर्य' बना है। परवर्ती युग में 'अर्य' शब्द से संवाधार्थे प्रत्यय होकर 'आर्य' शब्द निष्पन्न हुआ है, इसमें कोई असंगति नहीं है। इसके अतिरिक्त पंडितों का कहना है – 'आर्य' कहने से अर्थ असामान्य (Rare) होगा। भरतमुनि के द्वारा नाट्यशास्त्र की रचना होने तक सभी मान्य व्यक्ति 'आर्य' नाम से नामित हो चुके थे। इसीलिए वाक्य प्रचार प्रकरण में ''आर्योति ब्राह्मणं ब्रूयात'', ''आर्योति पूर्वजो भ्राता'' और उसी प्रकार से स्त्रीलिंग में ''गुरुचार्येति'' वक्तव्य, आदि के उल्लेख पाए जाते हैं। इन सबसे अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों ने अपने को दूसरे सबसे 'मान्य' के रूप में परिचित कराने के लिए ही 'आर्य' आख्या का विधान किया था। आलोचक श्री ननीमाधव चौधरी कहते हैं – यह आर्य आख्या, लगता है एक सार्थक आख्या है क्योंकि आर्यों के पूर्वज 'आर्य' शब्द का अपनी जातीय संज्ञा के रूप में प्रयोग करते थे। इसका प्रमाण है कि भारत वर्ष में जिस प्रकार संस्कृत भाषा में आर्य शब्द के अनेक प्रयोग पाए जाते हैं, उसी प्रकार फारसी भाषा में दारियस की लिपिमाला में भी 'अरिया' (Ariya) शब्द है। इसलिए इसे परम्परा क्रम में प्रचलित एक 'जातीय संज्ञा' कहा जा सकता है और शायद आर्यों से भिन्न अपूज्य या मर्यादाहीन जाति को अनार्य माना गया है। पहले आर्यों के संप्रसारण का विरोध करने वाले समुदाय को आर्य न कहकर अनार्य कहा गया। उसके बाद शबर, दस्यु, दास, आदि सभी आर्येतर समुदाय को 'अनार्य' माना गया और इसी से आर्यों और अनार्यों में संघर्ष हुआ था, जिसमें अन्त में आर्यों की विजय हुई।

अब सवाल यह उठता है कि क्या अनार्य माने जाने वाले हीन और अशिक्षित जीवन बिताते थे? क्या उनका परिवार, समाज, आचार, विचार कुछ भी नहीं था? क्या वे मात्र चोरी डकैती कर गुजर–बसर करते थे? वैदिक आर्य सूरियों के कहने के अनुसार क्या वे सचमुच स्तेन, भयप्रद, हिंसक थे? ऐसा मानने का कोई पर्याप्त कारण नहीं है। जिसका कोई स्थायित्व नहीं, सामूहिक विचार नहीं, सुनिरूपित निवास नहीं, उसका और क्या लोभ और ममता थी, जिसके कारण सुसंगठित, सुनियन्त्रित आर्यवाहिनी त्रस्त और परेशान हो जाती थी। जिसके कारण सुवीरा आर्य सेना कभी कभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो निराश्रय की भाँति अन्य कोई शरण न पाकर अदृश्य देव–शरण की तलाश करती थी। आर्यों के मौलिक ग्रन्थ ऋग्वेद से कोई भी सूक्त या मंत्र को देखें तो यही सूचना मिलेगी – ''हे इन्द्र! हमारी शत्रुओं से रक्षा करो, हे वरुण! आप हमारे शत्रुओं का नाश करें। मात्र यही नहीं, जब आर्य पराजित होकर अपने शिविर में लौटता है, तब अन्यन्योपाय हो स्तुति करता है –

''किमाग रस वरुण ज्येष्ठं
य स्तोतारं जिघांससि सखायं
प्रतन्ने वोचो दुलभो स्वधावो
व त्वानेना नमसा तुर इयाम्।''

अर्थात् हे वरुण! हमने आपके प्रति कौन सा अपराध किया है, जो आप अपने बंधु और स्तुतिकर्ताओं को मार रहे हो। हे दुर्जय और तेजस्वी वरुण, आप वह हमें बताएँ। तब हम हवि अन्नयावा नमस्कार के द्वारा उसके लिए यथाविधि प्रायश्चित करेंगे। जैसे –

"बिन इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्च पृतन्यतः

योसा आभिदास्यधरं गमयामः।"

पुनश्च –

"अकर्मा दस्यु रभिनो अमंतुरन्यव्रत्ये अमानुष्य

त्वं तमिस्यामित्रहन् दधर्दासस्य दम्भय।"

क्या इससे यह अनुमान नहीं किया जा सकता है कि जो जाति विदेशी आर्यों का विरुद्धाचरण करके 'दास–दस्यु' तथा 'असुर' बन गयी थी, वह आर्यों से किसी भी अंश में कम नहीं थी। इस बात को आर्यों ने भी स्वीकारा है –

"इदमहं तं बलमुद्धपामि यं नः समानो यम समानो निंचखानेदमेनमधरं करोमि।

योनः समानेऽस्मानोऽरातीयचि गायत्रेण उन्दसाऽबवाते बलगः।।"

यह आर्यों का समान या असमान शत्रुओं के विनाश के लिये मंत्रपाठ है। इससे पता चलता है कि कहीं अपने समबल तथा कहीं कहीं अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रुओं का सामना आर्यों को करना पड़ता था। इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि आर्यों के समबल, समस्तरीय शत्रु भी अनेक थे, जिनसे वे डरा करते थे। बस यही नहीं, उन शत्रुओं के आचार व्यवहार, धर्म कर्म आदि के बारे में कोई स्पष्ट धारणा के न होने पर भी मोहन जोदाड़ो पर काफी प्रकाश डाला है। उससे उनमें स्थायी निवास निर्माण की क्षमता, शिल्प तथा कारीगरी विद्या में कुशलता और गोष्ठीगत विचारधारा से परिचालित होकर सहावस्थान रीति के साथ–साथ विश्वास की निष्ठा, आदि प्रभावित होती है।

इस चर्चा के उपरान्त हम कह सकते हैं कि अनार्य आख्या परवर्ती काल में प्रदत्त एक उपाधि है। इसमें तथाकथित हीनता या घृणाव्यंजक अर्थ परवर्ती रचनाओं में पर्याप्त पाए जाते हैं, इसके बाद भी यथार्थ वह नहीं है। इसका अर्थ आर्येतर या आर्य विरोधी है।

परन्तु परवर्ती ऐतरेय ब्राह्मण और यजुर्वेद संहिता में अनार्य कहने से मात्र आर्य विरोधी समुदाय नहीं, अन्य धर्मावलम्बी किरात, शबर, भील्ल, आदि भी समझे जाने लगे, क्योंकि वे भी आर्येतर समुदाय हैं। वे अनार्य जाति के भिन्न–भिन्न वर्ग हैं। हाँ, हो सकता है कि 'अनार्य' शब्द के 'आर्येतर' अर्थ में सभी अनार्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। पर कदर्य अर्थ में नहीं, क्योंकि आर्यों के आने के पर्याप्त पहले निषाद, शबर, द्रमिल, दास, दस्यु, आदि अनेक समुदाय यहाँ के अधिवासी हो चुके थे। फिर भी वे भारत के आदिमतम अधिवासी नहीं हैं, यह इतिहासविदों का मत है।

अनार्य द्राविड़ भाषा के साथ हिमाचल प्रदेश की 'वृहि' भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस सिद्धान्त पर

भाषातत्वविद् तुलना के द्वारा पहुँचे हैं। इसके अतिरेक सुमेरियन सन्यासियों के साथ जैन भिक्षुओं का मुण्डित मस्तक होने की व्यवहार समानता आदि के विचार से वे भी उसी ओर के हैं, ऐसा अनुमान लगाने का पर्याप्त कारण है। कुछ सामाजिक रीतियों को लेकर भी इन दोनों वर्गों में समानता पाई जाती है। ऋग्वेद वर्णित 'पाणि' शब्द के अर्थ की दृष्टि से ऐसा लगता है मानो उससे द्रविड़ ही पहचाने जाते हैं, क्योंकि ऋग्वेद में 'पाणियों' को वणिक वर्ग का माना गया है। मोहन जोदड़ो के द्रविड़ भी क्रय–विक्रय, निर्यात–आयात के मामले में विशेष रूप से दक्ष थे, ऐसा ज्ञात होता है। विशेषतः उनकी आदिम सभ्यता के अनेक संकेतों के सिन्धु प्रदेश में पाए जाने के कारण ईसा पूर्व 3500 वर्ष पहले एजियन सागर की ओर से पारस्य और तिब्बत होते हुए एक वैदिक आर्येतर जाति ने आकर आदिम द्रविड़ेतर शबरों को प्रताड़ित कर सम्पूर्ण उपत्यका पर अपना अधिकार स्थापित किया और वहाँ सबसे पहले भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा की, यह विदित होता है। पर डॉ. हल का कहना है – नृविज्ञान (Anthropologicaly) की दृष्टि से द्रविड़ मेसोपोटामिया के सुमेरियन श्रेणी के हैं और उन्होंने ही भारत से चलकर सुमेरियन गोष्ठी का गठन किया था। इधर निषाद या शबरों में शायद उपत्यका क्षेत्र के प्रति विशेष लगाव नहीं था, यह स्वाभाविक ही है। उन्होंने जीवकोपार्जन के लिए उपत्यका से अधित्यका क्षेत्र को सही माना। क्योंकि उन्हें पशु–पक्षियों का शिकार करके ही पेट पालना था। इसलिए उन्होंने दुविधाहीन हो पुराना उपत्यका क्षेत्र छोड़ा और पूर्वी भारत के अरण्य क्षेत्र में आ गये। इसी के आधार पर सम्भवतः श्री विजय चन्द्र मजूमदार कहते हैं – शबरों के विन्ध्याचल से आने के कारण उनका नाम 'विन्ध्यमौलिक' पड़ा है। पण्डित विनायक मिश्र भी कहते हैं – भारत के उत्तरांचल से गण्डों के उपकूलवर्ती क्षेत्र तथा ओड़िशा में आने की कथा उन्हीं में पुरुषानुक्रम से प्रवाद के रूप में प्रचलित है। शबर न केवल भारत के पूर्व के उपकूल भाग में आए, बल्कि उनमें से कई ब्रह्मदेश की पर्वत श्रृंखला की ओर भी आए।

इसके पश्चात् विजित जाति सिन्धु उपत्यका की समतल भूमि पर स्वकीय सभ्यता और संस्कृति का विस्तार कर मोहन जोदाड़ो की भाँति विशाल नगर की स्थापना भी कर पाई। अतः डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी कहते हैं – भारतवर्ष आसिया इहारा ओ इहादेर अनुवर्ती समभाषिक आर्मनियडरा मिलिया दक्षिण पंजाब ओ सिन्धु प्रदेशेर विराट नागरिक सभ्यतार प्रतिष्ठा करे महेंजोदाड़ो ओ हड़प्पाये सभ्यतार ध्वंसावशेष एखन आमादेर विस्मित करिया दितेछे। एइ सभ्यतार गौरवेर युग छिल आनुमानिक ईसा पूर्व 3250–2750। इससे उनमें एकता और संहति का स्पष्ट एवं पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। मात्र इतना ही नहीं, धर्म, समाजनीति, शिल्पकला क्षेत्र में आए सभी उपादान वहाँ कमवेशी पनपे हुए थे। वे पहले उस क्षेत्र में आए और वहाँ के निवासी बने। आदिम अधिवासियों को शबर आख्या से आख्यायित किया गया था। बाद में संस्कृत अभिधानकारों ने उसकी व्युत्पत्ति की – ''शवान मृत शरीराणि राति आदित्ते इति शबरः'' अर्थात् जो शवों के द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, वे शबर हैं। इसका आशय यह नहीं है कि 'शबर' शब्द का मूल द्रविड़ है, न कि वैदिक संस्कृत शब्द। वह उन्हीं का अपना शब्द है – शाबर शब्द। शाबर भाषा में एक शब्द है 'सौर' (Sowr)। इसी शब्द को

द्रविड़ तथा आर्यों ने अपनाकर उसका संस्कृत रूप बनाया है 'शबर'। इसी तरह कई शब्द वैदिक संस्कृत भाषा में प्रविष्ट हुए। बाद में उसकी व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा में ''शवान् राति'' के रूप में हुई है। इसी प्रकार से किरात, निषाद, आदि शब्द भी बने। इससे यह मानना कि द्रविड़ निरामिषाशी थे, वह नहीं। वे भी मांसाहारी थे। पर इतना कि वह शबरों की भाँति उनकी जीविका नहीं थी।

इसके निर्यास स्वरूप कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की रचना के समय आदिवासी शबर और नवागत आर्यों के बीच एक तृतीय पंथावाली अलग जाति थी जो 'द्रमिल' नाम से परिचित थी। उन्हें ही वेद में दास दस्यु के रूप में आख्यायित् किया जाना अधिक सम्भव है। उनकी क्रिया कर्म कुछ अंशों में शबरों की और कुछ अंशों में आर्यों की भाँति थी। शबरों की तरह वे भी दूर दूरांत का भ्रमण कर जीविका निर्वाह करने के बावजूद आर्यों की तरह स्थायी निवास निर्माण कर बस्ती बसाने से अधिक सन्तुष्ट हुआ करते थे। शबरों की उपासना के प्रतीक वृक्ष या दारुपूजा को उन्होंने आकृति विशिष्ट जीव उपासना के साथ अपना लिया था। वेदधर्मी आर्यों के होम, यज्ञादि के सदृश इनमें मूर्तिपूजा और लिंगपूजा का प्रसार हुआ था। दस्युओं की मूर्तिपूजा को आर्य दोषावह कर्म के रूप में निन्दा करते थे। इनके आने के काफी पहले ही सिन्धुघाटी के नगरों में मूर्ति या लिंगपूजा का प्रचलन था, यह पता चलता है। ये शबरों के नवागत समुदाय को या जाति विशेष को युद्ध के बिना प्रवेश नहीं करने देते थे, परन्तु आर्य जाति की भाँति दूसरों की भाषा और सही भावना को ग्रहण कर लेने में हिचकते नहीं थे। कुल मिलाकर कहें तो द्रविड़ सभ्यता शबर–आर्य सभ्यता के संगम स्थल की तरह थी।

इसके अतिरिक्त द्रविड़ों में कुछेक साधारण उपयोगी गुणों का होना भी ज्ञात होता है। उनमें से एक है, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाकर व्यापार करने की प्रवृत्ति। यह ऋग्वेद के दसवें मंडल में 108 सूक्त के भग्यंतर में वर्णित है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि आर्य और अनार्यों के बीच लड़ाई सदियों तक चलती रही थी। इस प्रसंग में अधिकांश विद्वान सहमत हैं कि परस्पर युद्ध विग्रह में लगे रहकर भी मध्यवर्ती काल में उन्होंने किसी प्रकार के सामाजिक विकास कार्यों की अवहेलना नहीं की थी। लगता नहीं कि इस अनुमान में कोई असंगति है, क्योंकि आर्यों में जिस प्रकार वैदिक साहित्य और मंत्रविधान क्रमशः विकसित होता जा रहा था, उसी प्रकार उनमें कृषि, वाणिज्य, विदेश यात्रादि जीविका निर्वाह की नवीन प्रथाएँ उद्घाटित होती जा रही थीं। ऋग्वेद के सरमा उपाख्यान से इसका संकेत मिलता है। इसी कारण से उन्हें 'पाणि' के साथ–साथ 'असुर' की आख्या भी दी गई थी। 'असुर' शब्द का प्रयोग यहाँ 'आर्यशत्रु' के रूप में हुआ है। इसका अर्थ 'राक्षस' नहीं है। 'सु' का अर्थ है 'मंगल'। 'सु' का प्रदानकारी रूप है 'सुर' अर्थात् देवता। जो अमंगलदाता है, वह 'असुर' कहलाता है। माननीय भण्डारकर बताते हैं– इसका बेबीलोन के Assur या Asura शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह पूर्ण रूप से भारतीय है। इसकी उत्पत्ति 'असु' शब्द से हुई है। परन्तु पंडित नीलकंठ दास का कहना है – मूलतः 'असुर' शब्द का अर्थ है बेबीलोन के उत्तर की ओर स्थित देश, वहाँ के

उपास्य देव और निवासी। इन सभी का नाम असुर है। धीरे–धीरे असुर राजा उपास्य असुर देवता के नाम से अत्याचार, नरसंहार, आदि करके काफी अर्थ और कर की माँग करने लगे और अदायगी के लिए बाध्य करने लगे। तब पारस्य के पश्चिम की ओर स्थित प्रदेश में रह रहे आर्यों ने उन्हें सब कुछ समर्पित कर प्रार्थना पूर्वक सन्तोष से रहना उचित माना। इससे पहले ईसाई, वैष्णव, आदि ने भी आत्मसमर्पण कर धर्म और जीवन को लेकर रहना उचित माना। इस बात के अनेक प्रमाण पाए जाते हैं। अन्यथा पारस्य की पूर्वी ओर स्थित प्रदेश के अधिवासी आर्य, भारतीय आर्य उन जैसे असुर राजा और उपास्य देवताओं से घृणाकर अपने–अपने देवों को पूजते रहे। इसी प्रकार क्रमशः उस समय के आर्य द्विमत के कारण दो भागों में बँट गए। ऋग्वेद में है – ''महद्देवानाम सुरत्वमेकम्''। बाद में धीरे–धीरे भारत में असुरों के प्रति स्पष्ट रूप से घृणा और विद्वेष जन्मा। वहाँ पारस्य के पश्चिमी ओर देव कहने से दैत्य (Demon) समझा जाता है, यह पर्सियन आवेस्ता ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है। इधर भारत में असुर कहने से हम सब Demon ही मानते हैं। इसके लिए प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। धीरे–धीरे इस स्थिति के कारण भारत में जिन अनार्यों ने शत्रुता की, वे भी आर्यों के द्वारा असुर नाम से अभिहीत हुए। वे द्रमिल अर्थात् द्रविड़ों की भाँति सभ्य जाति से निम्न, नर मांसभोगी असभ्य मानव तक सभी थे। वर्तमान में 'असुर' शब्द का क्या तात्पर्य था, यह पता चलता है। पश्चिम देश के 'असुर' शब्द के अनुकरण से ही भारत में इसका अर्थ प्रचलित हुआ है।

यथार्थ में देखें तो यह असुर संज्ञा बेबीलोन के उत्तर में स्थित 'असुर' देश से ही आई होगी, ऐसा अनुमान है। आर्यों के आने से पहले यहाँ जो लोग थे, उनकी सभ्यता के साथ बेबीलोन की सभ्यता की समानता के बारे में पंडितों ने कहा है। आर्यों से पहले पहुँचे अनार्य यदि बेबीलोन या असुर देश से आए होंगे, तो अपने नाम के आगे उनके अपने देश का नाम हो सकता है जुड़ा हो, क्योंकि अनार्य या द्रविड़ों में यह प्रथा आज भी है। अब भी द्रविड़ परिवार अपने नाम के आगे अपना निवास स्थान, इलाका या ग्रामोद्योतक एक वर्ण का प्रयोग करते हैं, जिसे वे एंटिपेरू कहते हैं। उदाहरण के लिए, बी. रामालिंगम्, जी. सुब्बाराव, के. व्यंकटेशरलू, आदि। यहाँ प्रयुक्त बी., जी., के. एंटिपेरु हैं, अर्थात् निवास सूचक संज्ञा, अन्य अंश वास्तव में नाम हैं। मात्र ओड़िआ परिवारों में ही नहीं, सभी आर्य परिवारों में नाम के बाद जो शब्द रहता है, वह वृत्ति या कार्यमूलक अर्थ प्रकाशित करता है। उदाहरणतः – रमाकांत वाहिनीपति, राजवल्लभ प्रहराज, कृष्णचन्द्र पट्टनायक, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, मनोहरलाल नंदा, आदि। परन्तु द्रविण परिवारों के नाम के आगे जो रहता है, वह प्रायः किसी एक देश या स्थान का द्योतक होता है। इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ B कहने से बिक्कवालु वारु (Bikkavallu-varu), G कहने से गुण्टुरु बारु (Gunturu-varu), K कहने से कोण्डापल्ली (Kondapalli)। ये सभी भिन्न–भिन्न स्थानों के नाम हैं। 'बिक्कवालु' और 'कोण्डापल्ली' गोदावरी जिले की दो जगहों के नाम हैं और 'गुण्टुरु' अबका 'गुण्टुर' जिला, वारु (Varu) वासिंदा है। उस ओर से आकर और कहीं भी जो लोग रचने बसने लगे हैं, वे अपने मूल निवासस्थान का परिचय देने के लिए उसी ग्राम के आद्यवर्ण को 'एंटिपेरु' के रूप में प्रयोग करते हैं।

अधिक सम्भव है कि यह प्रथा पहले आदिम द्रविड़ सम्प्रदाय में प्रचलित थी। उस समय के द्रविड़ अपने नाम या गोष्ठी के साथ प्रथम या मूल निवास स्थल 'असु' का भी प्रयोग करते थे। दृष्टान्त स्वरूप, असुर–शम्बर, असुर–वृत्त, असुर–अहि, आदि। इसी से शायद उन्हें 'असुर' नाम से अभिहीत किया गया। बाद में शाब्दिक व्याख्यान के समय उस शब्द का एक नवीन अर्थ 'अ–सुर', सुर विरोधी या आर्य विरोधी किया गया। फलस्वरूप उनकी सभ्यता तक आसुरी सभ्यता के नाम से परिचित होती आई है।

पर बाद में साहित्य में उसे 'आसु' अर्थात् जो प्राण लेता है, या जो निर्दयता से प्राण विनाश करता है, 'असुर' कहा गया। 'असून राति गृहाति इति असुरः' और 'अस्यंति क्षिपंति देवान् इति असुराः' – इसी तरह से वह अर्थान्तरित हो गया। तत्कालीन अनार्यों की लड़ाई के लिए प्रतिबद्धता और अप्रतिहत विक्रम देखकर शत्रुओं ने परवर्ती काल में इस जैसी एक घृणित व्याख्या की होगी; वह अवश्विनीय नहीं है।

यह कहते समय एक और अनुमान का भी मन में स्वतः उद्रेक होता है। आर्यों–अनार्यों के बीच वर्षों की लड़ाई और अनेक क्षेत्रों में अनार्यों की पराजय के लिए, पराजित जाति होने के नाते युद्ध एक भयानक आपदा के रूप में आया और उसने उनकी संहति, श्रृंखला और एकता को तितर–वितर कर दिया, ऐसा नहीं हुआ। फिर भी उन कई समुदायों ने पूर्व–उपकूलवर्ती क्षेत्र, कुछेक दक्षिणपूर्व आधित्यका के क्षेत्र, कुछेक सुदूर दक्षिण सीमांत प्रदेश और ब्रह्मदेश की ओर पलायन कर कम से कम शांतिपूर्वक रहकर बस जाने का प्रयास किया होगा, यह भी अविश्वनीय नहीं है। अतः आलोचक विद्वानों का कहना है – During the Vedic age, we have reason to infer that the Tamilians or Dravidians inhabitated this land from the Himalaya to cape-comorin and beyond.

अर्थात् वैदिक युग में तामिल या द्रविड़ों के हिमालय से लेकर कुमेरिका तक भारतवर्ष में बस्ती स्थापित कर रहने–बसने के प्रमाण पाए जाते हैं। अब केन्द्रीय प्रत्नतत्व उपदेष्टा मण्डल के चतुर्दश अधिवेशन में उपस्थापित रिपोर्ट में इसका प्रमाण है। कहा गया है – ''सिन्धु सभ्यता एक व्यापक क्षेत्र में विस्तारित थी। लोथल के पास भूखनन से पता चलता है कि हड़प्पा सभ्यता दक्षिण में नर्मदा और ताप्ती नदियों के बीच ब्रोआन और सूरत तक तथा पूर्व में यमुना की उपनदी हिन्ड़न तट तक विस्तृत थी। इस क्षेत्र में निवास करने वाले सिन्धु घाटी से पर्याप्त दूर चले गए थे, फिर भी वे मोहन जोदाड़ो और हड़प्पा के निर्माण कौशल को अपनाए हुए थे। उसके बाद उन्हीं स्थानों पर नगरों का निर्माण कर अपने को एक स्वतन्त्र जाति या समुदाय के रूप में उन्होंने परिचित कराया। अवश्य ही यह एक दो वर्ष की बात नहीं है, इसी में सदियाँ बीत गईं।

इसी प्रसंग में एक और बात की सूचना देना आवश्यक है। आर्य और अनार्यों के इस दीर्घकालीन युद्ध–विग्रह ने दक्षिणपूर्व अरण्यवासी शबरों को तिल भर भी प्रभावित नहीं किया था। जिस दिन से इन आदिम अधिवासी शबरों को उत्तर दिशागत अर्थात् अफगानिस्तान होते हुए पूर्व ईरान से आए अनार्य द्रविड़ों ने विताड़ित कर सिन्धु घाटी, आदि समतल प्रदेशों में अपना अधिकार स्थापित करने लगे, उसी दिन से वे इस क्षेत्र की ओर भाग आए तथा परम्परागत रीति–नीति,

आचार–विचार के द्वारा स्वतन्त्र रूप से चालित होकर चारों ओर फैल गये। फलस्वरूप गंजाम और विशाखापट्टनम के मालांचल समेत गोदावरी नदी तटवर्ती भद्राचल के क्षेत्र में भी शबर बस्तियाँ देखी जा सकती हैं, ऐसा इतिहासकारों का मत है। गंजाम जिले के दक्षिण सीमांत पर वंशधरा नदी के तट पर वे पर्याप्त संख्या में निवास कर रहे हैं। गोदावरी नदी की एक उपनदी का नाम शबरी है। अतः वह उसी क्षेत्र के अधिवासी शबरों के नामानुसार नामित हुई है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। इनमें से अनेकांश ने गहन अरण्य में पशु–पक्षियों को मारकर जीविका निर्वाह करते हुए कुछ ने उपकूल अंचल में रहकर दूसरी वृत्तियों को भी अपनाया। यह उनके लिए बाध्यता थी। कुछ समुद्र में मछली मारकर और कुछ गहन वन्य प्रदेश में अरहर, हल्दी, आदि की खेती करके तथा कुछेक पालन योग्य पशुओं को संग्रहीत कर उनके मांसादि के द्वारा उदर पोषण करते हुए स्वतन्त्र रूप से रहने लगे। कुछेक ने मांसाहार छोड़ फलमूलादि का भोजन करके रहने में दुविधाबोध नहीं किया। इसी के फलस्वरूप अरण्यवासी समुदाय में भी पशुमांसाहारी, पक्षीमांसाहारी, नीच वर्ग के पशुमांसाहारी जैसे क्रव्याद, श्वपच, चाण्डाल, आदि विभिन्न समुदायों के रूप में उनका उद्‌भव हुआ। बाद में धीरे–धीरे जब अन्य जाति के क्रम संश्रयव के द्वारा अधिक परिचित हुए होंगे, तब वे शबर, व्याध, आदि उपाधियों से भूषित हुए होंगे, ऐसा अनुमान है। उनकी निवास भूमि पूर्व में गंगासागर, दक्षिण में कृष्णा तट, पश्चिम में छोटा नागपुर और उत्तर में छत्तीसगढ़ समेत उपकूल भर में सुविस्तृत क्षेत्र थी।

चतुर्थ प्रकाश

प्राचीन भारत में अलग–अलग सभ्यताओं का संघर्ष और समाधान

इसी प्रकार दीर्घकालीन युद्ध की विभीषिका को झेल न पाए तो जान बचाने के लिए हो या जीविकोपार्जन के लिए हो अथवा एक खुशहाल जिन्दगी बिताने के लिए, द्रविड़ों में से अनेक शबरांचल की ओर भाग आए, इसमें कोई सन्देह नहीं। वे नये परिवेश में अपनी अलग पहचान खोकर धीरे–धीरे देशकालोचित सभ्यता को अपनाने के लिए बाध्य हो गये। इसी के फलस्वरूप अविमिश्रित आंचलिक शबर सभ्यता में भी कुछ न कुछ नए का प्रवेश अवश्य हुआ होगा। नवागत द्रविड़ अपने दिली प्रयासों के बाद भी स्थानीय अधिवासियों के साथ पूर्णतः सम्मिलित नहीं हो पाए होंगे, फिर भी यह अवश्यंभावी है कि उन्होंने एक–दूसरे को प्रभावित किया होगा। इसी कारण नई गोष्ठियों के उद्‌भव हुए होंगे, इस सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। कालक्रम में इन्हीं अलग–अलग सम्प्रदायों ने विभिन्न नामों से पहचान पाई होगी।

इसके अतिरेक जिन्होंने जनबस्ती पूर्ण क्षेत्रों की ओर न आकर दक्षिण भारत में विभिन्न स्थानों पर अधिकार कर बस्तियाँ बसायीं, उन्होंने धीरे–धीरे अपने को स्वतन्त्र मानकर अध्युसित स्थानों को भिन्न–भिन्न उपाधियों से भूषित किया होगा। जिससे बाद में नई–नई गोष्ठियाँ अस्तित्व में आईं।

"आंध्राः कर्णाट काश्चैव गुर्जरा द्रविड़ास्तथा

महाराष्ट्र इति ख्याताः पंचैते द्राविड़ाः स्मृता ।"

ये पाँच जातियाँ 'द्राविड़' नाम से परिचित हैं। यहाँ द्राविड़ शब्द ही उल्लेखनीय है। आंध्र, कर्णाटक, गुर्जर, द्राविड़ और महाराष्ट्र, इस तरह पाँच शब्दों के रहते पंचगुर्जर या पंचमहाराष्ट्र न कहकर इसे पंचद्राविड़ क्यों कहा गया, यह विचारणीय है। शायद गोष्ठियाँ सबसे पहले 'द्राविड़' के नाम से परिचित थीं। बाद में किसी कारणवश अलग हुए, तो प्राचीन ऐक्य या स्मृतिरक्षा के लिए पंचद्राविड़ नाम से अभिहीत हुए। यह भी विचारणीय है कि द्राविड़ शब्द देशवाचक नहीं, जातिवाचक है। द्रमिळ = द्रविड़ : तामिळ, बाकी चार देशवाचक शब्द हैं। इससे सही अनुमान लगाया जा सकता है कि जिन गोष्ठियों से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सदियों तक लड़ाई लड़ी और विदेशागत आर्य–शत्रुओं का सामना करते हुए वीरत्वव्यंजक पराजय स्वीकार की, वे ही यथार्थ में द्राविड़ थे या तथाकथित अनार्य दास–दस्यु थे। उनका अपना नाम था द्रमिल या तामिलक। उन्होंने ही दाक्षिणात्य में आकर अलग–अलग स्थानों पर बस्तियाँ बसाईं और महाराष्ट्र, गुर्जर, आंध्र, आदि नामों से अध्युषित अंचलों का नामकरण किया। बाद में स्वतन्त्र देशवासी के रूप में अपना परिचय देने के लिए महाराष्ट्री, कर्णाटकी, आदि कहलाने लगे। इतनी नूतनता के रहते हुए भी अपने को द्राविड़ के रूप में परिचित कराने में वे गौरवान्वित हुआ करते थे। इसी से लगता है कि यही 'पंचद्रविड़' शब्द का मूलतत्व है। इसके कुछ समय पश्चात् देश स्वातन्त्रय को लेकर गोष्ठी स्वातन्त्रय पनपा और समयानुक्रम से दूसरी गोष्ठियाँ पहले आकस्मिक और बाद में धारावाहिक सामाजिक रीतियों को लेकर शाखाओं में बँट गयीं।

इसके अलावा द्राविड़ों में कुछ ऐसे वर्ग के भी लोग थे, जिन्होंने स्वेच्छा से अथवा युद्धकालीन अनिवार्यता के कारण आर्यों की आधीनता को स्वीकार किया। स्वेच्छा से इस तरह शत्रुओं की आधीनता स्वीकारने वाले संख्या में गिनती भर होने के बाद भी स्वार्थ संरक्षण के उद्देश्य से या युद्धबन्दी के रूप में काफी संख्या में द्राविड़ लोग शत्रुओं के हाथ लगे होंगे, इसमें अविश्सनीय कुछ भी नहीं है। उसी भाग्यहीन बंदी सम्प्रदाय को आभिजात्य सम्पन्न वैदिक आर्यों ने 'दास' आख्या से आख्यायित कर अपने कार्य सम्पादन हेतु अवश्य ही लगाया होगा। बाद में उन्हीं के वंशजों ने अपने को आर्य–शाखा का माना होगा। चाहे जो भी हो, पहले–पहले बंदी बने द्राविड शत्रुओं के आदेश से निन्दनीय कार्य के लिए अवश्य ही कुंठित और पश्चाताप से भरे हुए होंगे। अतः कभी–कभी मौका पाकर उनमें से कुछेक या तो खाली हाथ या थोड़ी बहुत सम्पत्ति बटोरकर शत्रुओं के चंगुल से मुक्त होकर भाग आए होंगे। यह भी सम्भव है कि उन भाग आए लोगों को 'दस्यु' कहा गया होगा। ऋग्वेद के कई सूक्तों में दस्युओं के कार्यों का कई तरह से वर्णन है। दस्यु निरपराध लोगों पर निर्ममतापूर्वक अत्याचार करते हैं, इसलिए वरुण, इन्द्र, आदि पराक्रमी देवताओं को चाहिए कि उनका विनाश करें।

दस्युओं के उपर्युक्त कार्य अगर सत्य हैं, तो वह अवश्य ही घृणित कार्य थे। ऐसे कार्य वैदिक काल में जिस प्रकार से निन्दनीय थे, वैसे ही आज के स्पुतनिक युग में भी निन्दनीय ही माने जाएँगे। पर यह भी विचार करना होगा कि गोष्ठी–गोष्ठियों के बीच या जातियों के बीच जिन्दा रहने के लिए आपसी संग्राम की आग के दहकते समय वैदिक काल के तथाकथित दस्युओं का विनाश शक्तिशाली देवतागण अपने दैवप्रभाव से क्यों करने जाते। चाहे कुछ भी हो, दस्यु पराजित और पदावनत हुए थे, यह निश्चित सत्य है।

अब वेद के रचनाकाल में भारत की सामाजिक स्थिति क्या थी, देखना है। श्वेतकाय आर्यों के भारत पर आक्रमण से पूर्व सिन्धु प्रदेश में हड़प्पा और मोहन जोदाड़ो जैसी विशाल सभ्यता की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, यह सर्वविदित है। द्राविड़ नामक एक जाति इसकी प्रतिष्ठाता थी और यह आर्य सभ्यता से पूर्णतः भिन्न थी। इसकी संस्कृति, सामाजिकता, गुरु परम्परा, धर्मादर्श, मोक्षपंथ सब कुछ अलग था। धर्मगुरुओं की सेवा और स्मृतिरक्षा को धर्मादर्श माना जाता था। भूखनन से आविष्कृत पुतलियों की आकृति के साथ जैन मूर्तियों में साम्य देखकर सही रूप में समकालीन जैन धर्म न भी हो, तब भी उसका आदिम बीजरूप कोई धर्म उस समय प्रचलित था, ऐसा विश्वास किया जाता है।

यथार्थ में जैन धर्म पृथ्वी का मूल अध्यात्म धर्म है। वैदिक धर्म के आने के काफी पहले यही जैन धर्म भारत भूमि पर था। अधिक सम्भव है कि यह धर्म प्रागैतिहासिकों में द्राविड़ों का धर्म था। इसका अनुमान परवर्ती जैन ग्रन्थ समूह से लगाया जाता है। इसी प्रकार वैदिक साहित्य से भी प्रमाणित हो जाता है। पहले वैदिक साहित्य पर विचार हो।

वेदों में इन्द्र, वरुण, अग्नि, आदि देवताओं के नामों के अतिरिक्त ऋषभ, अरिष्टनेमि, आदि के नामोल्लेख भी हैं। ये जैन परम्परा के चतुर्विंशति तीर्थंकरों में एक–एक तीर्थंकर हैं। विशेषकर ऋषभ इस धर्म के आदि गुरु या प्रतिष्ठाता हैं। विष्णु पुराण और श्रीमद्भागवत में ऋषभ विष्णु के दशावतारों के पूर्ववर्ती एक अवतार के रूप में वर्णित हुए हैं। इस पर भी वे उसी पुराण में 'महायोगेश्वर' के रूप में अभिहीत हुए हैं। जैन ग्रन्थ में ऋषभ का जिस प्रकार चित्रण हुआ है, ठीक

उसी प्रकार आर्य ग्रन्थ में भी वर्णित होने के कारण दोनों को एक और अभिन्न कहने से शायद भूल नहीं होगी। वैदिक साहित्य, विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों में हमारे लिए अनुमान लगाने के कई कारण हैं, जिससे हम कह सकते हैं कि अलग आदर्श के दो धर्म प्रतिस्पर्धी के रूप में दोनों की गति समांतराल थी। उनमें से एक ने वैदिक धर्म को छोड़ा तो दूसरा सिन्धुसभ्यता कालीन धर्म था, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह द्राविड़, जैन, आदिम पाशुपत, अनार्य जिस किसी भी आख्या से आख्यायित क्यों न हो, कोई हानि नहीं होगी।

होमरीक ग्रीक जिस तरह वर्षा के देवता Zens को मानते हैं, पर नीति के अनुसार उन्हें मनुष्य के रूप में लेते हैं, उसी प्रकार भारतीय आर्य भी इन्द्रादि देवताओं पर उसी रूप में विश्वास करके यज्ञादि के अनुष्ठान करते हैं। पर सैंधवयुगीन जैन–द्राविड़ देवताओं को जीव मनुष्य से कोई विशेष भिन्न रूप में लेते नहीं। इस बात का पता प्राचीन मिस्र सभ्यता की चर्चा से भी ज्ञात होता है। ईसा से साढ़े पाँच हजार वर्ष पूर्व यह बात मिस्र की पौराणिक कहानियों में कमोवेश समाहित थी। देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य, आदि प्रत्येक जीवों में एक आत्मा है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा उस प्राणी से अधिक 'सत्' और 'चिरस्थायी' है। इसी कारण मिस्र के अधिवासी देवता मानकर प्राणियों की उपासना करते थे। पर जैनियों के मत से देवगण पृथ्वी पर सामान्य मनुष्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण कर्म सम्पादन करने हेतु देवत्व प्राप्त कर स्वर्गादि में अधिष्ठान करते हैं और उस कर्मफल की समाप्ति के पश्चात् फिर धरती पर अवतरित हो जाते हैं। पर इनके मतानुसार स्वर्ग एक नहीं, अनन्त हैं। यह बात पार्श्वनाथ के जीवन चरित् से ज्ञात होती है। कथित है कि पार्श्वनाथ त्रयोदश स्वर्ग के इन्द्र थे। वे महावीर वर्धमान से ठीक पहले के तीर्थंकर थे। उनके बारे में निम्नोक्त कहानी है –

पहले पार्श्वनाथ त्रयोदश स्वर्ग के इन्द्र थे। उनके कर्मफल की समाप्ति के पश्चात् वे मर्त्यलोक में फिर अवतीर्ण हुए। वे राजा अश्वसेन के औरस और रानी उमा के गर्भ से द्वितीय पुत्र मरुभूति के रूप में जन्मे थे। उनका प्रथम पुत्र कमठ दुष्ट था, उसका वर्ण काला था पर मरुभूति का वर्ण गोरा था। तीस साल की उम्र में उनके द्वारा सन्यास लेकर अहिंसा धर्म का प्रचार करने के कारण अश्वसेन ने क्रुद्ध होकर उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया था। वे जाकर अरण्य में ऋषियों के संग रहने लगे। कुछ समय पश्चात् मरुभूति ने सोचा कि इस बीच अवश्य ही भाई का हृदय परिवर्तन हो गया होगा, अतः वे उसे ले आने के लिए उनके पास गये। उन्होंने जाकर उन्हें प्रणाम किया तो कमठ ने पूर्व क्रोध की प्रतिहिंसा स्वरूप एक पत्थर की तलवार से उन्हें मुक्ति प्रदान की। परन्तु वहाँ तपस्वियों को जब यह पता चला तो उन्होंने कमठ को विताड़ित किया। अतः उन्होंने वहाँ से आकर 'भीलों' के साथ शेष आयु व्यतीत की।

उल्लिखित कहानी से जैनियों में जन्मान्तर के प्रति विश्वास का पता चलता है, साथ ही दो और बातें ज्ञात होती हैं। पहली बात कृष्णकाय अग्रज और दूसरी 'भील जाति'। इस प्रसंग पर बाद में विचार करेंगे। यहाँ इसका उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि जैनी देवताओं को मनुष्य मानते थे और वे देवगण स्वेच्छा से आकर मनुष्य गर्भ से जन्म लेते थे। यही पार्श्वनाथ की कथा है। उनके पूर्ववर्ती अरिष्टनेमि जैन परम्परा में द्वाविंश तीर्थंकर हैं। वे पार्श्वनाथ से 84 हजार वर्ष पहले थे, ऐसा जैन शास्त्रकारों का कहना है। वे पार्श्वनाथ के निर्वाण के 250 वर्ष पूर्व तक थे। महावीर के निर्वाण का

समय ई. पू. 526 सदी है, इस गणना से अरिष्टनेमि का क्या समय रहा होगा, यह गणना साध्य नहीं है। द्वादश तीर्थंकर अरिष्टनेमि की गणना में यदि वर्ष–संख्या का निरूपण संभव हो पाता, तो आदिम तीर्थंकर ऋषभ का समय क्या होगा, कल्पना से इसका अनुमान तो हो ही जाता। एक वैदिक मंत्र में ऋषभ अरिष्टनेमि शब्द के पाये जाने के कारण वे वेद की रचनाकाल तक प्रख्यात हो चुके थे, यह निश्चित है। और यह भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋषभ, अरिष्टनेमि जिस धर्म के गुरु थे, उसका जैन धर्म होना अधिक सम्भव है, इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं। यही धर्म द्रविड़ धर्म के रूप में वेद–पूर्व मोहन जोदाड़ो काल में प्रचलित था। बाद में वही जैन धर्म के रूप में ख्यात हुआ, अतः दार्शनिक Zimmer कहते हैं – This would be seen to suggest that in Zoroastrianism a resurgence of pre-Aryan factors in Iran, following a period of Aryan supremacy, may be represented some thing comparable to the Dravidian resurgence in India in the form of Jainism and Buddhism.

इससे पता लगता है कि ईरान में जो राष्ट्रीय धर्म में आर्य धर्म के प्रसार के तुरन्त बाद ही आर्यपूर्व धर्म का पुनरुत्थान भारत में भी आदिम द्राविड़ धर्म, जैन धर्म के रूप में पनपा।

अब पूर्वोक्त जैनग्रंथ वर्णित कहानी के ''कृष्णकाय अग्रज'' पर विचार करें। इस कहानी के साथ प्राचीन इजिप्ट की The story of two brothers में कोई समानता है या नहीं, विचारणीय है। और भी, आर्यग्रन्थ वर्णित देवासुर युद्ध का मूलबीज क्या है; उस पर मनन, विश्लेषण की भी आवश्यकता है। मात्र वह नहीं, बाइबिल वर्णित गल्पमाला में Cain and Abew और Esa and Jacob की कहानी तथा पारस्य कहानी वर्णित Dark Brothers या 'काला भाई' दाहक के (Azhi Darho) तत्व को समझते हुए इन सबमें निहित योगसूत्र की सही खोज होने पर यह निःसन्देह प्रमाणित हो जाएगा कि इन सबका आशय एक है, विभाव भी, क्योंकि सभी कहानियों में अग्रज ही दुष्ट है, पापी है और उसका वर्णन अत्याचारी के रूप में हुआ है और अनुज में उदारता, दया और धार्मिकता है जिससे अग्रज के सभी अपराधों को उसने निरातंक रूप में क्षमा कर दिया है।

पूर्वोक्त अलग–अलग धार्मिक मतवादों में आध्यात्मिक भावनाओं के अतिरिक्त उन कहानियों से यथार्थ इतिहास की क्या सूचना मिलती है, यह भी अनुशीलनीय है। प्रत्येक कहानी में अग्रज दुष्ट, असाधु और अनुज साधु है। प्रत्येक क्षेत्र में अग्रज पराजित और अनुज विजयी हुआ है। विजयी पक्ष द्वारा अपने को न्यायवान और धर्मात्मा बताकर पराजित पक्ष को दोषी और पापात्मा कहना भी सामान्य सी बात है। इसी प्रकार आदिम आष्ट्रिक शबर अग्रज हैं, जो आगन्तुक अनार्य, द्राविड़ रूपी मनुज के द्वारा पराजित हुए हैं, अतः द्रोही और हीन के रूप में वर्णित हुए हैं। अतएव विजयी द्राविड़ों ने अपने को नवागत के रूप में सम्मानित कर अग्रज कृष्णकाय शबरों को अरण्य निवासी श्वापदों के साथ रहने के लिए भगाकर अपने स्वार्थ को पूरा किया है। यही कमठ और मरुभूति की कहानी का सारतत्व है। उसके कुछ समय पश्चात् जब दीर्घकाय सुश्री आर्य जाति ने तृतीय भ्राता के रूप में पदार्पण किया, तब पराजित अनार्य द्राविड़ों (अग्रज) में यही

न्यायपरायणता बची न रह पाई। तत्काल उसका वर्णन अत्याचारी दास–दस्यु के रूप में होने लगा। तब भी बात यही थी कि विजयी आगन्तुक आर्य अनुज थे और पराजित पूर्वागत आर्य अग्रज थे। वहीं कुछ कम कृष्णकाय अनार्य ही दस्यु और असुर हैं और श्वेतकाय अनुज आर्य देवतारूपी। कमठ का वनवास, बाद में भीलों के साथ मित्रता के वर्णन से यह धारणा प्रमाणित होती सी लगती है क्योंकि भील शबर जाति का एक अलग वर्ग है। आर्यों के आक्रमण को सहन न कर पाए तो द्राविड़ शबरों के साथ मित्रता के सूत्र में आबद्ध हुए थे।

इसके पहले भी कहा गया है कि सिन्धु सभ्यता या जैन सभ्यता वैदिक आर्य सभ्यता से पहले प्रचलित थी। आर्य सभ्यता के शक्तिशाली संप्रसारण के बाद भी पहले की सभ्यता पूरी तरह से निश्चिह्न नहीं हो पाई, वरन् उसकी भाँति समांतराल रही, दोनों के आदर्श भिन्न थे। एक यज्ञादि क्रियानुष्ठानमूलक थी और दूसरी पूर्णतः अहिंसा और संन्यासमूलक थी। एक में स्वर्गलाभ के लिए अग्निहोत्रादि यज्ञ तो दूसरे में आत्मज्ञान या कैवल्य के लिए आत्मसंयम, एक में अदृष्ट धर्मोत्पति के लिए ''सर्वमेध सर्व हिंस्यात्'' तो दूसरे में आत्मलाभ के लिए ''माहिंस्यात् भवभूतानि'', इस तरह दो भिन्न आदर्श समताल से तथा समान विक्रम से कदम बढ़ाते हुए चले थे। यह अवश्य आर्य–अनार्य संघर्ष के अन्तिम पर्याय की बात है। तब तक, यहाँ तक कि क्रियाशील वैदिकों में भी प्रतिक्रियाशील दूसरे धार्मिक प्रभाव अनेकांशों में विस्तृत होने लगे थे। फलस्वरूप उनमें भी दो तरह के मतवादों का उन्मेष होने लगा था। उल्लिखित वशिष्ठ और विश्वामित्र के वाक्यद्वय से यही अर्थ समझा जाता है।

इसके अलावा भी अनुमान के लिए कई और कारण हैं। एक तो जब भारत के उत्तर–पश्चिम प्रान्त होते हुए आर्य दलबद्ध होकर आए, तब स्थानीय सिन्धु प्रदेश के आदिवासी द्राविड़ उनके आक्रमण के आघात सहन न कर पाने के कारण पीठ दिखाकर दक्षिण–पूर्व दिशा की ओर चले आये। अवश्य जिन्होंने सुदूर दक्षिण की ओर पलायन किया था, उनकी बात अलग है। परन्तु जिन्होंने साहस के साथ निरन्तर लड़ाई लड़ी, वे ही उत्तर भारत के पूर्वांचल से लेकर पूर्व उपकूल तक विस्तृत क्षेत्र में स्थित भूखण्ड को सुदृढ़ सामरिक व्यूह की भाँति विपदशून्य रख सके थे। बाद में जब आर्य मात्र ब्रह्मावर्त से सन्तुष्ट होकर पुनराक्रमण से शांत हुए होंगे, तब पराजित समूह ने भी सदा की युद्धजन्य तिक्तता के कारण पलटकर आक्रमण करने का साहस नहीं किया होगा। फलस्वरूप दीर्घकाल तक संघर्ष का अवसान हो सका।

पर हमें यहाँ यह भी देखना है कि इस दीर्घकालीन युद्ध की अवधि में एक पक्ष ने दूसरे पक्ष से किन–किन वस्तुओं अथवा आदर्शों का आहरण कर अपने को परिपुष्ट किया है या दान में क्या देकर विपक्ष को प्रभावित किया है। एक ओर वैदिक धर्म में यज्ञादि कर्मानुष्ठान के साथ पाशुपत धर्म का आदर्श मिलकर 'ईशन' के रूप में अलक्ष में ही आत्मप्रकाश करते समय, दूसरी ओर पूर्ण अहिंसा या सन्यासमूलक सिन्धु धर्म में हिंसा संवलिन बलिप्रधान वैदिक धर्म के प्रभाव से एक प्रकार से नवीन शैव तथा शाक्त धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। दूसरी ओर बंदी बने आर्य जिस प्रकार से आर्यों के साथ मिलकर आर्यों में शूद्र वर्गीभूत हुए, उसी प्रकार कुछेक आर्यों ने भी द्राविड़ों में रहकर अपने को ''द्राविड़ ब्राह्मण'' के रूप में परिचित कराया। केवल पहचान की दृष्टि से ही नहीं, आचार, विचार, भाषा, साहित्य, सभी प्रसंगों में पारस्परिक

प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके फलस्वरूप परवर्ती आर्यग्रन्थों में दो प्रकार की चिन्तन समन्वित रचनाएँ प्राप्त हुईं। फलतः काशी, कोशल, विदेह, मगध, आदि देशों को कुरु–पांचाल आदि देशों की जनता जाने से कतराती रही और उसे जताते हुए निम्नलिखित सूत्रोपाख्यान ''शतपथ ब्राह्मण'' में लिपिबद्ध हुआ। भारत के पूर्व देश स्थित आर्यों के वैदिक धर्म और क्रियाकाण्ड को न मानते हुए नए धर्म में दीक्षित होने के कारण कुरु–पांचाल देश की सामाजिक प्रथा से काशी, कोशलादि देश की प्रथा भिन्न होने के कारण तथा ब्राह्मण सम्प्रदाय को चतुर्वर्णपति के रूप में स्वीकार न करने हेतु और वहाँ के अधिवासियों के संस्कृत भाषा के विशुद्ध उच्चारण न कर पाने के कारण भिन्न भाषा को अपनाने के फलस्वरूप ब्रह्मवर्तकाल में उन देशों को म्लेच्छ देश कहा गया। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जब बुद्धोत्तर काल में भारत की एक जगह पर आर्य भाषा प्रचलित थी, तब दूसरी जगह की भाषा भिन्न थी। फिर भी एकत्रावस्थान के कारण आर्य, अनार्य दोनों भाषाएँ एक–दूसरे को प्रभावित करती रहीं और नूतनत्व की सर्जना होती रही। यह पहले अनार्य भाषा–भाषी व्यापक क्षेत्र में गिनती के बराबर आर्यों की बस्ती के कारण संघठित हुआ सा लगता है, क्योंकि सैंधव जाति की भाषा से नवागत वैदिक भाषा तुलनात्मक रुप से अधिक शक्तिशाली थी। इसके परवर्ती प्राकृत या पालि भाषा के उद्‌भव का कारण यही है, ऐसा कहा जा सकता है। मात्र यही नहीं, उस युग के समय अर्थात् ईसा पूर्व 1000 से ईसा पूर्व 600 तक उत्तर भारत में कुरु, पांचाल, केकय, आदि उत्तरांचल के पूर्वी भाग और मध्य भारत में कोशल, विदेह, मगध, आदि तथा दक्षिण में अवन्ती, मालव, आदि दैशिक विभाग भी पाए जाते हैं। यह बात बाजसनेयी संहिता में भी उल्लिखित है।

परन्तु भारतवर्ष के इन सारे परिवर्तनों से मगध के निकटवर्ती दक्षिणपूर्व उपकूल के निवासी शबर जाति की सभ्यता किस भाँति तिलमात्र प्रभावित नहीं हुई, यह विचारणीय है। द्राविड़ों के द्वारा विताड़ित होकर प्राचीन अष्ट्रिक समुदाय जिस दिन पूर्व सागर के तटवर्ती घने जंगलों में आ बसे, उसी दिन से या उसके पहले से कौलिक परम्परा के अनुसार पालन करने वाली सभ्यता को आर्यों के एशिया प्रान्त से मित्रावरुण, इन्द्र, आदि को जिस प्रकार साथ ले आए थे, उसी प्रकार उन्हें भी साथ ले आए थे। जाति के साथ–साथ जातीय धर्म, जातीय आचार विचार, सब कुछ साथ आए होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यही कारण है कि जिससे अब भी शबर भूमि ओड़िशा का धर्म स्वतन्त्र, उपास्यदेवता स्वतन्त्र, विचारधारा भी स्वतन्त्र है। यह आर्य–द्राविड़ परम्परा रहित एक महनीय रस से रसमय है। चाहे जो भी हो, पारम्परिक प्रथा की मर्यादा की रक्षा, पितृ–पितामह के प्रति सम्मान, परिशेष में स्वानुष्ठित धार्मिक विश्वास के निविड़ आकर्षण में शबर समुदाय इस भाँति बँधा हुआ था कि उससे अलग होना उसके लिए असम्भव सा था। इसलिए कैसे भी शक्तिशाली झंझावात के आघात से न वह संकुचित हुआ, ना ही विचलित। उसके देवता, उसके मंगलाकांक्षी वृक्ष दारु, शिलाखण्ड की तरह अचल, अडिग रहे हैं। अब भी वह वृक्ष या दारु के अतिरिक्त किसी और को देवता के रूप में स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में 'दारु' एक पूज्य देवता, शुभाशुभ प्रदाता और सृष्टिकर्ता हैं।

इससे हम अन्य धर्मों से उसका धर्म–दर्शन न्यून है, यह नहीं कह सकते। उसका धर्म विश्वास पर प्रतिष्ठित है। उसकी मुक्ति आदर्शवाद में पर्यवसित है। उसे सुखलिप्सा के लिए अदृष्ट स्वर्ग की कल्पना आवश्यक नहीं प्रतीत हुई।

अपना हेतु या साधना स्वरूप याग–यज्ञादि करना उसने कभी भी पसन्द नहीं किया। जागतिक भोग विलास से दूर रहकर सन्यास व्रत का पालन करते हुए ध्यान, धारणा, समाधि, आदि क्रियाओं के द्वारा निर्वाण लाभ के लिए उसने कभी भी आग्रह नहीं किया। अपनी आद्य भूमिका सदृश अहिंसा मार्ग का अनुसरण भी उसने नहीं किया। धूप, वर्षा, शीत, आदि उसकी दृष्टि में सामान्य बातें हैं। उसके विचार से वे प्रकृति के अभ्यासगत नित्य कर्म हैं। अतः उसका आदर्श प्रत्यक्ष जागतिक है। उसकी कर्मभूमि अरण्य है और धर्म है जिन्दा रहना, इसलिए उसने वृक्ष को ही देवता के रूप में चुन लिया है। उसी के आदर्श से उसने जीवन धारण किया है। वृक्ष जिस भाँति स्वयं अंकुरित होकर आकाश और मिट्टी से तेज, रस, वायु का आहरण करके जिन्दा रहता है, यथाशक्ति फल, पुष्पादि वितरित कर दूसरों का उपकार करता है और अभाव के समय अंततः छाया दिए बिना नहीं रह पाता, उसी प्रकार शबर अरण्य में जन्म लेकर अपने हाथ–पैरों के बल पर स्वयं मेहनत कर जीविका निर्वाह करता है और परिवार का पालन पोषण करते हुए जो भी बच जाता है, उससे दूसरों के काम आने पर कुंठित नहीं होता। वह वृक्ष की भाँति सर्वसहा है। कुठाराघात से वह स्थानच्युत नहीं होता। समीपस्थ दूसरे वृक्ष–लताओं की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होता, वरन् आवश्यकतानुसार ऊपर उठाकर सहेजने की प्रचेष्टा करता रहता है। इसी से उसकी उदारता और महत्व की अभिवृद्धि ही हुई है, घटी नहीं। आवश्यकतानुसार उसने अपने ही स्वार्जित आहार से दूसरों को खिलाकर उनकी पुष्टि की है। यही शबर का आदर्श है, यही उसका धर्मदर्शन है। इसी के कारण उसने वृक्षपूजा की है और करता भी रहेगा। यही उसका मैत्रीधर्म है।

इसके अतिरिक्त शबर धर्म में एक और आदर्श से भेंट हो जाती है, वह है शिलादर्श। जंगल के किसी कोने में किसी भी अकर्मण्य शिला की स्थापना कर उसकी पूजा करता आया है। इसी से समझना होगा कि जैसे शबर एक दृष्टिकोण से वृक्षधर्मी है, उसी प्रकार से पाषाणधर्मी भी। पाषाण की तरह वह कठोर है, निष्ठुर है। स्वाधिष्ठान से विचलित होना उसके लिए स्वभाव विरुद्ध है। आसानी से वह टूट नहीं जाता। चाहे जितनी धूप, शीत और वर्षा क्यों न हो, वह उसे सताते नहीं, वरन् वह मान लेता है कि उसी के लिए ही उसका जन्म हुआ है, उसी में उसका आनन्द है। अतः उसने कभी कुटिया से आँख फेरकर प्रासाद भवन की ओर देखा तक नहीं। केवल वही नहीं, अकर्मण्य शिला की भाँति असमानता देखना भी उसका जाति–विरुद्ध आचरण है क्योंकि उसमें 'आकृतिगत वैषम्य' है, प्रकृति में कोई विषमता नहीं है। अतएव शबरों में जातिभेद नहीं है। देवता की सर्जना में सब एक हैं। सभी के द्वारा अपने–अपने कर्म का संपादन करते हुए जीना ही शबर के लिए धर्म कहलाता है। अतः विद्वेष का कोई कारण ही नहीं है। शिला कितनी भी बड़ी क्यों न हो, उसके समीप वाले शिलाखण्ड के साथ उसका कोई विरोध नहीं होता। कोई किसी का विरोध नहीं करते हैं, वरन् उनमें पारस्परिक सहयोग रहता है। उसी प्रकार से कोई कैसे भी धर्म–कर्म क्यों न करे, उसके लिए कोई कुछ नहीं कहता। आवश्यकतानुसार उपकार किया जा सकता है, अपकार नहीं। यही उसका पाषाण धर्म है। साम्यधर्म, सहावस्थान का धर्म है।

इस धर्म के लिए उसे कोई तर्क नहीं देना पड़ा, कारण तलाशने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यही कारण है कि

वह जैन–बौद्ध ग्रन्थों में अहेतुवादी, अक्रियावादी और नास्तिकतावादी के रूप में अभिहीत होता आया है। ''अंगुष्ठानिकाय'' में उल्लेख है कि बुद्धदेव के छः प्रतिद्वन्दियों में से एक थे ''पुराण काश्यप''। उनका दर्शन अक्रियावाद और अहेतुवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, ऐसा विद्वानों का मत है। उनके दर्शन के अनुयायी समाज के निम्नवर्ग में इस तरह व्याप्त हो चुके थे कि लगभग 8000 व्यक्तियों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। ''पुराण कश्यप'' उत्कल भूमि में जन्मे थे, इसके कोई पर्याप्त प्रमाण न होने पर भी उन्होंने उत्कल या शबर भूमि को अपने कार्यक्षेत्र के रूप में चुना था। तब तक कलिंग में जैन धर्म की जड़ें भी जम चुकी थीं। यह कब से हुआ, कह पाना सम्भव नहीं। जो भी हो, यहाँ तक अनुमान किया जा सकता है कि तब यानि कलिंग में महावीर के आने से पहले दक्षिण–पूर्व भारत में एक संकर धर्म का प्रादुर्भाव होने लगा था। इसमें हेतु, क्रिया, फल के बारे में किसी चर्चा के संकेत तक न पाए जाने के कारण लगता है कि यह साम्य मैत्री धर्म का आदिम अंकुर दारु मैत्री धर्म के अलावा कुछ और नहीं है।

पूर्वोक्त द्विविध साम्य और मैत्री धर्म से परिचालित शबर सैंधव सभ्यता के पहले अर्थात् ईसा पूर्व 5000 साल के पूर्व भारत के दक्षिण पूर्वांचल में आकर स्थायी निवास की स्थापना की थी। उनमें शबर, निषाद, भील, आदि कुछेक नाम की विषमता के अतिरिक्त और कोई भेद था, इसकी कोई सूचना कहीं नहीं है। आहार, विहार, पूजा, उपासना, नृत्य, संगीत सब समान थे। सबने अपनी जीविका की धारा अलग–अलग ढंग से अपनायी थी। यद्यपि वे गोष्ठी या परम्परारूपी अनुष्ठानों में एकत्रित और दलबद्ध होकर रहा करते थे। इसके लिए देशकाल का व्यवधान उन्हें एक–दूसरे से अलग रखने में निमित्त के रूप में अवश्य विद्यमान था। फिर भी वह पूजा, उपासनादि के समय निहायत मामूली हो जाता था क्योंकि सबके जातीय देवता एक और अभिन्न थे। शबरों की दृष्टि में देव प्रतिष्ठित वह स्थल मुसलमानों के मक्का और ईसाइयों के पैलेस्टाईन की तरह अत्यन्त पवित्र माना जाता था। इसलिए पर्व और त्योहार के समय आसपास के शबर आकर सम्मिलित हो जाते थे। इस विचार से उनके देवता को उनके जातीय देवता माना जा सकता है।

शबरों के धर्म, विश्वास के आधार पर जातीय ऐक्य संपादन के प्रसंग भी यहाँ विचारणीय हैं। चाहे देश काल का व्यवधान कुछ भी क्यों नहीं हो और उस पर भिन्न–भिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष और परोक्ष दबाव ही क्यों न हों, वे दारु और शिला के व्यतिरेक आर्यों के सूर्य या द्राविड़ों की मूर्तियों को पर्याप्त समय तक देवता के रूप में स्वीकार नहीं पाए। उनकी दृष्टि में सूर्य एक उड़ने वाला पक्षी ही था। अब भी शबर दैनिक काल–भेद करने के लिए सूर्य को एक पक्षी ही मानते हैं। इन्हें स्पुतनिक काल के घण्टा, मिनट, सेकेण्ड या मध्ययुगीन घड़ी, दण्ड और मुहुर्त के बारे में ज्ञात ही नहीं है। सामान्य तौर पर उनका दैनिक काल विभाग इस प्रकार है –

	शाबर भाषा	**अर्थ**	**आनुमानिक समय**
1.	तिसा डेते	सूर्य डैने झाड़ रहा है	साढ़े तीन पूर्वाह्न
2.	जेयांगले	आकाश लाल दिखने लगा	साढ़े चार पूर्वाह्न
3.	सा सा गांग डांगले	सूर्य किनारे आया	साढ़े पाँच पूर्वाह्न

4.	डुंगयाँगले	सूर्य बाहर निकला	छः बजे पूर्वाह्न
5.	डाइयोंगले	सूर्य ऊपर चढ़ आया	सात बजे पूर्वाह्न
6.	लेंगबोंग योंगले	सूर्य बीच में रहा	बारह बजे पूर्वाह्न
7.	साड़ियोंगले	सूर्य उतरने लगा	एक बजे अपराह्न
8.	रुबेंग योंगले	थोड़ा सा उतरा	तीन बजे अपराह्न
9.	सुयो योंगले	शीतल हो आया	चार बजे अपराह्न
10.	गायोगले	डूब गया	साढ़े पाँच अपराह्न
11.	आरुब्ले	ढक्कन डल गया	साढ़े छः अपराह्न
12.	आर्योगले	काला पड़ गया	सात बजे अपराह्न

इससे ज्ञात होता है कि उनके विचार से सूर्य आकाशपथ पर डैने खोल उड़ जाता है और अपने घोंसले में वापस आ जाता है। यह आर्यों के प्रत्यक्ष सूर्य देवता के लिए शबर की सामान्य सी धारणा थी। अतः वह अज्ञेय, अदृश्य शक्तिविशेष के प्रतिनिधि मनुष्य विग्रह की भाँति परोक्ष देवता को क्यों देवता मानने जाए? इसलिए उसके देवता दारु ही हैं जिसकी जीवनधारा के साथ अपने जीवन की धारा समान है।

एक और बात है कि आर्यों की यज्ञवेदी या अग्निगृह अथवा सैंध द्राविड़ों की गुरुस्थली की तरह शबर किसी कृत्रिम स्थल को देवता का निवास–योग्य स्थल मानते नहीं थे। पहले कह चुका हूँ कि उनका देवता वृक्ष या शिला है। अतः उनके लिए किसी कृत्रिम स्थल को निदेशित करने की कोई आवश्यकता नहीं। वे किसी वैचित्र्यमयी प्रकृति की गोद में ही अपने देवता को चुना करते थे। अर्थात अरण्य और पर्वतों में जिस वृक्ष को सबसे उत्कृष्ट मानते थे, वह पेड़ कच्चा हो या सूखा, यहाँ तक कि उसका अवशेष भर ही क्यों न हो, वे उसे देवता मानते थे। यह प्रथा आज भी शबरों में प्रचलित है। मुझे पता है कि पारलाखेमुंडी माळ इलाके के एक सौरा पल्ली में एक पुराने पेड़ की गण्डी को, जिसका आधा भाग नहीं था, देवता के रूप में पूजा करते हैं। मैंने पूछा कि इतने सारे पेड़ों के रहते इस सूखे पेड़ की पूजा क्यों करते हो तो मुझे उत्तर मिला – रहने दें बाबू, ये हमारे पता नहीं किस काल के देवता हैं। इससे पता चलता है कि वे कुछ भी नये सिरे से नहीं चलाना चाहते हैं। जो जैसा है, वैसा ही रहे।

पंचम प्रकाश

वेद, वैदिक आर्य और दारुपूजा

अब देखना है कि आर्य और द्राविड़ के बीच दीर्घकालीन लड़ाई की अवधि में शबर अध्युषित भूखण्ड में किस प्रकार परिवर्तन हुआ था और उन विवादग्रस्त गोष्ठियों पर उसके कारण कैसी प्रतिक्रिया हुई थी। तब तक शबर के वृक्ष देवता 'दारुदेवता' के रूप में परिचित हो चुके थे, यह स्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि प्राचीनकाल से उपासित होने वाले वृक्ष के अवशेष या लकड़ी के लट्ठे को देवता मानना उनकी परम्परा है। उसी दारु के आगे खड़े होकर अपने हृदय के भाव व्यक्त कर देने के लिए उनमें कोई कुण्ठा नहीं थी। फलतः दारुपूजा आपस में युद्धरत रहे दोनों समुदायों की दृष्टि से परे नहीं रह पाई। जैन–द्राविड़ों की मूर्तिपूजा और आर्य ब्राह्मणों की इन्द्र वरुण उपासना उन्हें प्रभावित नहीं कर पाई तो उन्होंने दारुपूजा के प्रतिकूल मंत्रावली की रचना की। अतः ऋग्वेद संहित में पाया जाता है –

''अदो यद्दारु प्लवते सिन्धो पारे अपुरुषं

तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्'' – ऋग्वेद 10 मं. 155–3

यहाँ 'अपुरुष' शब्द से लगता है कि यह 'दारु' वेद का 'सहस्रशीर्ष पुरुष' या जैन 'पुरुषोत्तम' उपासना नहीं है। इसलिए उससे निवृत्त होकर पहले उसे अपना लेने के लिए कहा गया है। इसे किसी जैन या जैन–भाव–भाषित ऋषि ने लिखा होगा। इसमें जैन और शबर दोनों धर्मों की खींचातानी है। इससे अष्ट्रिक या प्रटोअष्ट्रलएड़ के साथ कलिंग का गहरा सम्बन्ध था, ऐसा ज्ञात होता है। उस समय कलिंगस्थ दारु के लिए द्वन्द्व चल रहा था। अपने दारु को प्रतिपत्तिशाली बनाने की उन्होंने प्रचेष्टाएँ की थीं। पंडितों का कहना है कि बर्मा, इण्डोनेशिया, पल्लिनेशिया के साथ कलिंग का वर्हिवाणिज्य था। अतएव अनुमान है कि किसी आर्य भावापन्न जैन मुनि या जैन भावापन्न ऋषि ने इस मंत्र की रचना की होगी। क्योंकि आर्यों के आने के बाद जैन–द्राविड़ और आर्य सभ्यता का ऐसा ओतप्रोत सम्मिश्रण हुआ, जिसके फलस्वरूप द्राविड़ बहुल क्षेत्र में मुष्टिमेय आर्य जिस प्रकार से द्राविड़ भावापन्न हो गये, उसी प्रकार आर्यों में द्राविड़ या अनार्य भी शामिल होकर घुलमिल गये। कारण स्वरूप व्यास, आदि आर्येतर व्यक्तियों के द्वारा जिस प्रकार आर्य ग्रन्थ और धर्म परिपुष्ट हुआ, उसी प्रकार वृहस्पति, चार्वाक आदि आचार्यों के द्वारा आर्य विरोधी दर्शन की सर्जना भी हुई। यही ऋग्वेद वर्णित मन्त्र से अनुमानित होता है।

पर यह कब और कैसे हुआ था, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है। फिर भी यह कार्य ईसा पूर्व 1500 से 1200 की अवधि में हुआ, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि वेद रचना के काल के बारे में इतिहासविद् जो प्रमाण उपस्थित करते हैं, उससे यही धारणा बनती है। इस प्रसंग में अवश्य अनेक इतिहासकार अलग–अलग विचार व्यक्त करते हैं। इसलिए यहाँ कुछ प्रसिद्ध ऐतिहासिक आलोचकों के वक्तव्य उद्धृत कर रहे हैं –

जो ''अपौरुषेयं वेदः'' अर्थात् वेद किसी पुरुष या व्यक्ति के द्वारा रचित नहीं हुए हैं, ऐसा बतलाते हैं और सृष्टि

की उत्पत्ति के साथ–साथ वेदों की भी उत्पत्ति हुई है, कहते हैं, उनके लिए ''वेद्यते अनेन सर्वमिति वेदः'' अर्थात् 'ज्ञान', जिसके द्वारा सब कुछ पता चल जाता है। परन्तु वेद का यदि ऋग्वेदादि ग्रन्थों के रूप में अर्थ लगाया है तो ऐसी व्याख्या किसी काम की नहीं रहेगी। अवश्य उसके लिए काल का निर्णय करना होगा। दृष्टिपूर्व हो या लिखितपूर्व, निश्चित रूप से कोई न कोई समय अवश्य है। उस काल के निर्णय हेतु कई पंडितों ने कई प्रकार के सूत्रों को अपनाया है और उसका फल भी निर्देशित कर गए हैं।

उनमें से संस्कृत भाषाविज्ञ मैक्समूलर के सूत्र को सर्वप्रधान होने की ख्याति प्राप्त हुई है। उन्होंने वेद को ईसा पूर्व 1200 की रचना के रूप में प्रमाणित किया है। उनका कहना है – सभी वैदिक साहित्य के रचना–काल को चार अलग युगों में विभाजित किया जा सकता है – 1. छन्द युग 2. मन्त्र युग 3. ब्राह्मण युग 4. सूत्र युग। मूलतः उन्होंने भाषा और भाव तथा परवर्ती काल की सारस्वत रचना शैली का विवेचन पूर्व की रचनाओं से मिली सूचना के आधार पर करते हुए इस प्रकार युग विभाग की कल्पना की है। उन्होंने यह भी कहा है कि इनमें से सूत्रयुगीन रचनाओं में अनुक्रमणी और परिशिष्ट, ऐसी दो वर्गों की रचनाएँ पाई जाती हैं। अनुक्रमणी के रचनाकारों में शौनक और कात्यायन सर्वप्रथम हैं। शौनक ने ऋग्वेद में अनुक्रमणी और कात्यायन ने ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेद, इन दोनों में सर्वानुक्रमणी की रचना की है। दोनों की रचनाओं में तुलना करने पर लगता है कि शौनक कुछ गद्य–पद्य मिश्रित रचना के साथ–साथ छंद रीति को कायम रखने में श्लथ से लगते हैं, परन्तु कात्यायन ने गद्य–कविता लिखने के साथ–साथ परवर्ती सूत्र रचना को नवीन शैली प्रदान की है जो अर्वाचीन संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर पाई जाती है। इसके अतिरिक्त दोनों ने शाकल और वाष्पल दोनों शाखाओं का सम्मिलित रूप से अनुसरण किया है। इससे अनुमानित होता है कि शौनक और कात्यायन दोनों अभिन्न शाखाध्यायी थे और शौनक कात्यायन के पूर्वज थे।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी की व्याख्या करते समय परम्परा के बारे में षड्गुरु शिष्यों ने जो कहा है, उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय शौनक, अश्वलायन, कात्यायन और पातंजलि नाम से क्रमानुसार चार शाखाएँ थीं। फिर भी ''कथासरितसागर'' के रचनाकार सोमदेव भट्ट, कात्यायन और वररुचि अभिन्न हैं, ऐसा बतलाते हैं। उन्होंने लिखा है – कात्यायन पाटलीपुत्र नरेश नन्द के मंत्री थे। इसे अगर सत्य मानें तो कात्यायन का काल प्रायः ईसा पूर्व 325 होगा। ऐतिहासिक प्रमाण के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश का विनाश किया था और वे 'देवानांप्रिय' अशोक के पितामह थे। अशोक ईसा पूर्व 270 में सिंहासनारूढ़ हुए, यह उनके शिलालेखों से प्रतीत होता है। अतः कात्यायन ईसा पूर्व चौथी सदी के अन्तिम चरण के हैं, स्पष्ट हो जाता है। इतिहासकारों ने महाभाष्यकार पातंजलि को ईसा पूर्व दूसरी सदी के रूप में निरूपित किया है। उन्होंने अपनी वार्ता में कात्यायन को दो सौ साल पूर्व का बतलाया है, अतः लगता है उपर्युक्त गणना अभ्रान्त है। तो हम अश्वलायन को ईसा पूर्व 350 के कहकर शौनक के काल को ईसा पूर्व 400 कह सकते हैं। पुरातन सूत्रलेखन शैली और शौनक की रचना शैली में साम्य न होने के कारण सूत्र युग की अवधि को ईसा पूर्व 600 से 200 के बीच स्थापित कर लगभग स्वीकारा जा सकता है।

सूत्रयुगीन रचनाएँ ब्राह्मण वर्णित जटिल यज्ञादि कर्म सम्बन्धी प्रसंगों की सरल व्याख्या के उद्देश्य से रचित होने के कारण ब्राह्मण युग को सूत्र युग का पूर्ववर्ती युग मान सकते हैं। अतः ब्राह्मण युग को और दो सौ वर्ष आगे कर लें तो वह ईसा पूर्व 800 से 600 होगा, क्योंकि अग्रगति के लिए अन्ततः दो सौ वर्ष अवश्य ही लगते होंगे।

परन्तु ब्राह्मण युग की रचनाओं में उसके पूर्व युग के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती है। इस पर उस युग की चिन्तनधारा में इस प्रकार के कुछ प्रसंग सन्निवेशित हैं, जिन्हें पढ़ने मात्र से उस युग की ही नहीं, दूसरे युग की चिन्तनधारा में भी भ्रम, प्रमाद, विश्रृंखलता, आदि को लेकर सन्देह होता है। नूतन चिन्तन या नवीनतम भावनाओं के आधार पर न लिखा जाकर मात्र प्राचीन रचनाओं का संग्रह कर उनकी व्याख्या और अनुकरण में वह युग व्यस्त रहा। वैदिक मंत्रों की भाँति नव नवोन्मेषशालिनी रचना को छोड़कर इस प्रकार की अन्तःसार शून्य रचनाओं के प्रसार के लिए बीच में एक पूरा युग ही बीत गया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः ईसा पूर्व 1000 से 800 की कालावधि को हम मंत्र युग मान सकते हैं।

सूत्र, ब्राह्मण और मन्त्र तीनों युगों की रचनाएँ एक ही पुरातन युगीन साहित्य पर प्रतिष्ठित थीं। इस युग को मन्त्रदृष्टा युग या वैदिक युग की ख्याति प्राप्त हुई है। इस युग के ऋक् मंत्र युग में यथावत् रूप से सन्निवेशित होकर ब्राह्मण युग में उन्हीं की भिन्न–भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ भर हुई हैं। सूत्र युग में उन पर बिन्दुवार चर्चाएँ होकर उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपादेयता का प्रतिपादन हुआ है। यह मौलिक विचार और सत्याविष्कार का युग था, आदिम चिन्तन के विस्तार का युग था। यही छन्द युग या वैदिक युग था। ईसा पूर्व 1200 से 1000 की कालावधि को इस युग के लिए निरूपित किया जा सकता है। इसी के आधार पर ऋग्वेद की रचना ईसा पूर्व 1200 में हुई थी, यह कहा जा सकता है।

परन्तु पीटरसन कहते हैं कि उल्लिखित सूत्र अनेक दृष्टि से दुर्बल हैं। पहली बात तो यह है कि भाषा और शैली के आधार पर किसी युग का निर्णय लेना उचित नहीं। और कोई आधार न हो, तो केवल भाषा और शैली सही सिद्धान्त पर शायद पहुँचा भी न पाएँ, क्योंकि शताब्दीव्यापी किसी एक युग के कालखण्ड में, यह कोई विचित्र बात नहीं कि एकाधिक शैलियाँ आधृत हों। द्वितीयतः, जिस थ्योरी या सूत्र को आधार मानकर कल्पनाएँ की जाती हैं, वह प्रमादरहित है, उसका भी प्रमाणित होना आवश्यक है। जिस कात्यायन के समय का आधार लेकर उन्होंने वैदिक साहित्य का काल निर्णित करने की प्रचेष्टा की है, वह कात्यायन कौन हैं, इसमें भी सन्देह है। वैदिक अनुक्रमणी के प्रणेता कात्यायन, व्याकरण के वृत्तिकार कात्यायन और नन्द के मन्त्री कात्यायन, इनमें क्या सम्पर्क है; ये एक और अभिन्न हैं या नहीं, इसका उत्तर आज भी निश्चित नहीं हो पाया है। उस पर षड्गुरु शिष्य और सोमदेव भट्ट की उक्ति में ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह भी विचारणीय है। इतने सारे प्रश्नों के रहते मात्र कात्यायन को आधार मानकर ऋग्वेद जैसे एक दुरूह और आदिमतम ग्रन्थ का काल निर्धारित करना बुद्विमत्ता नहीं है। तृतीयतः, युगकाल कहने के लिये मात्र दो सदियों को ही क्यों लिया जाएगा, इसके लिए कोई तर्कसिद्ध कारण भी नहीं है। युग कहने से हो सकता है कि 500 वर्ष हो या 1000 वर्ष भी हो सकता है। कई इतिहासकार भी यही कहते हैं। इन्हीं कारणों से शायद उन्होंने स्वयं वैदिक काल को

ईसा पूर्व 1500 के रूप में परिवर्धित किया है।

ऐसा नहीं है कि मैक्समूलर के अलावा और किसी ने इसी प्रकार से काल निरूपण नहीं किया है। उनमें से एक वेदज्ञ विद्वान मेकडॉनल (Mekdonell) का कहना है – We must thus rest content with the moderate estimate of the thirteenth century B.C. as the appropriate date for the begining of the Rig Vedic period.

इतिहासकार व्हिटनी (Whitney) कहते हैं कि ईसा पूर्व 2000–1500 वैदिक काल है। आलोचक केजी (Kaigi) ने भी उसी बात को स्वीकारा है। वेबर (Weber) के मतानुसार आर्य पहले ईसा पूर्व सोलहवीं सदी में भारत आए, अतः वैदिक मन्त्रों की रचना ईसा पूर्व 1600 में हुई है।

इन मतों पर विचार करने से यही ज्ञात होता है कि केवल भाषा और रचना–शैली रूपक शंकु को लेकर वेद का काल निर्णय करने जाएं तो नहीं हो पाएगा। उसके लिये और भी कई उपादान संग्रहीत करना होगा, क्योंकि भूखनन से आविष्कृत अनेक नवीन वस्तुएँ भी प्राचीन इतिहास पर चर्चा के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी हैं। अतः इतिहासकार स्मिथ कहते हैं – The yield in the point of historical information is so scanty, that we must confess that it is yet too early to dogmatise over the result of this find.

भाषा और भाव के तुलनात्मक सूत्र के अलावा गणितीय रीति से भी ऋग्वेद के काल निर्णय के लिए प्रयास कम नहीं हुए हैं। इस रीति से काल निरूपित करने वालों में आलोचक हॉग (Haug) उल्लेखनीय हैं। उन्होंने वेदांग ज्योतिष की एक कारिका के अवलम्बन से सौरकक्ष का निर्णय करके वेद की रचना का काल बताया है। वह कारिका है –

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्यचंद्र मसाबुदक्

सर्पार्द्धे दक्षिणार्कस्तु मघाश्रवणयोः सदा।

इसके द्वारा वेदांग ज्योतिष का सृजन काल कुछ आगे हो जाता है, अर्थात् यह ईसा पूर्व 1886 होगा। उस कारिका के द्वारा वे दो सिद्धान्तों पर पहुँचते हैं। प्रथम, इस प्रकार ग्रह–नक्षत्रों की गतिविधि का निरूपण करने के कारण उस समय के भारतीय ईसा पूर्व 1200 में भी ज्योतिषशास्त्र में किस भाँति ज्ञानार्जन कर पाए थे, यही ज्ञात होता है। द्वितीय, ब्राह्मण वर्णित धर्मानुष्ठानों के क्रियाकलाप तब पूर्णाङ्ग हो चुके थे। अतः ईसा पूर्व 1400–1200 में ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई है, ऐसा अनुमान है। इसके पूर्व कम से कम 500–600 वर्ष न लगे, तो संहिता की भाँति अमूल्य ग्रन्थों की रचना को असम्भव मानकर उन्होंने ईसा पूर्व 2000–1400 को 'संहिता युग' के नाम से अभिहीत किया है। ऋग्वेद के मंत्र संहिताओं से भी प्राचीन हैं, ऐसी मान्यता है और संहिताओं के पहले यज्ञादि क्रियाओं के अनुष्ठान के प्रमाण प्राप्त होने के कारण उनकी रचना के लिए अन्ततः चार सौ वर्ष लगे होंगे। इसी अनुमान से ईसा पूर्व 2400–2000 की मध्यावधि को वैदिक काल के रूप में स्वीकारा है।

बधज्कोई से आविष्कृत उपादानों के आधार पर मनीषी आर. जी. भण्डारकर एक नये सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। वे कहते हैं – हम 'असुर' को आधार बनाकर वैदिक काल का निर्णय कर सकते हैं, क्योंकि 'ईशावास्योपनिषद्' के 'असुर्याः' शब्द के साथ 'एसिरिआ' शब्द की समानता के कारण लगता है कि 'असुर्या' शब्द असुर अध्युषित क्षेत्र के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसलिए भारतवर्ष में जिस प्रकार आर्यों की प्रगति का प्रतिरोध दस्युओं ने किया था, उसी प्रकार असुरों ने भी एसिरिया देश में किया था। इसी प्रकार से अनेक तर्कों के द्वारा भण्डारकर ने मान लिया है कि लगभग ईसा पूर्व 2500 तक ऋग्वेद की रचना हो चुकी थी।

जो भी हो, उल्लिखित तर्कों से ही लगता है कि अभी तक ऋग्वेद का रचना काल निर्णित नहीं हो पाया है और निर्णय करने के लिए सही सामग्री भी प्राप्त नहीं हुई है। विंटर निज् की भाषा में कहें तो – "Anything certain in this question is everything uncertain."

पर अब 'भारतीय इतिहास समिति' के प्रमुख सम्पादक श्री आर. सी. मजुमदार ने इसकी पाण्डित्यपूर्ण गवेषणा करके अपने ''आर्य समस्या'' (The Aryan Problem) नामक निबन्ध में कहा है – "Thus from general linguistic consideration we get for the Rig-Vedic language, as known to us, an approximate date of 1000 B.C. Although the culture represented by it must be considerably older, it can hardly be pushed back considerably before 1500 B.C." यानि भाषा तात्विक दृष्टिकोण से विचार करने पर पता चलता है कि वैदिक भाषा आनुमानिक ईसा पूर्व 1000 की है। यद्यपि वैदिक संस्कृत उसके 500 वर्ष पहले थी, ऐसा अनुमान लगाया जाता है, इस सिद्धान्त को अब स्वीकार कर लेने के अलावा कोई और चारा नहीं है। अतः ऋग्वेद संहिता के उस 'दारुदेवता' मंत्र की रचना ईसा पूर्व 1200 में हुई थी, यह अनायास कह सकते हैं। तब तक प्रटोअष्ट्रलएड या शबरों में वृक्ष के बदले दारुपूजा प्रचलित हो चुकी थी, स्पष्ट रूप से ऐसा ही प्रतीत होता है।

संभवतः उसके काफी पहले शबरों में वृक्षपूजा प्रचलित थी। इसी के लिए तत्कालीन शबरों को अपनी ही निवास भूमि में एक वृक्ष को चुनना होता था। इसी उद्देश्य से पता नहीं कितने शबर दलबद्ध होकर अपने अभीष्ट देवता के अन्वेषण में उपकूलवर्ती अरण्यों में भटके होंगे, कौन बता सकता है ? अंत में एक दिन उनकी मनोकामना पूर्ण हुई और उन्हें देवता के दर्शन मिले। तीनों ओर घने अरण्य, एक ओर सुविशाल महोदधि, पास ही एक शबरपल्लि थी। अहर्निश तरंगों के मंद गंभीर गर्जन से मुखरित थी वह भूमि। बीच में एक वेदी सदृश स्थल था। रमणीय था वह स्थल। उस पर एक शाखा प्रशाखाओं से शोभित वृक्ष था। मनोहर तन। विशाल शाखाएँ। चारों ओर शुभ्र सैकत राशि रजत पट्ट की भाँति घेरे हुए थी। उससे बढ़कर कोई और उत्कृष्ट देवता हो सकता है क्या? शबरों की आँखें खुली ही रह गई होंगी और उसी पल से ही पूजारम्भ हो गया होगा।

उसके बाद काफी संख्या में शबर एकत्रित हुए होंगे। नृत्य गायन के भी विपुल आयोजन हुए होंगे। अनगिनत

मृग, वाराह और सुस्वादु चखने योग्य फलमूल से वह स्थल परिपूर्ण हो गया होगा। देवता ने प्रसन्न होकर मंगल कामना की होगी। शबर दम्पत्तियों के भूमिष्ठ प्रणाम सादर ग्रहण किए गए होंगे। उनकी सुन्दर नृत्यलीला युक्त भाव–भंगिमा देखकर देवता भी प्राणवंत हो उठे होंगे। और फिर इसी देवता के लिए ऋग्वेद सरीखे ग्रन्थ में भी मंत्र रचना हुई होगी। इससे तब दारुदेवता की कैसी प्रसिद्धि थी, पता चलता है।

उस समय नव–प्रतिष्ठित आर्यावर्त में भी सामाजिक परिवर्तन का उदय हुआ था। उनमें जातिभेद और चातुर्वण्य एक है। ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के अन्तर्गत इसका संकेत मिलता है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहु राजन्यः कृतः

उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या शूद्रोऽजायत ।

इस सूक्त की रचना के समय आर्य ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र इस तरह से चार वर्णों में विभाजित हो चुके थे। यह विभाग सम्भवतः पहले कर्म या वृत्ति के विचार से हुआ करता था। वेदपाठ, पूजा उपासना, आदि के लिए उच्चारित मंत्र का मुख्य साधन 'मुख' को जो कर्म या वृत्ति के लिए काम में लाते थे, वे ब्राह्मण कहलाए। बाहों (भुजाओं) के उपयोग से जो राज्यादि पर विजय प्राप्त कर शासन चलाते थे, वे राजन्य हुए या करणः कायस्थः हुए। जंघा कारणक देश विदेशादि में पर्यटन करके व्यापार करने वाला वर्ग वैश्य कहलाया और दैनन्दिन गृहकर्म के लिए इधर–उधर चलने वाला वर्ग शूद्र के नाम से परिचित हुआ। अतः यह भी निश्चित ही है कि तब तक आर्य समुदाय में आभ्यंतरिक दृष्टि से भेद की भावना का सूत्रपात हो चुका था।

यहाँ यह कहने का तात्पर्य यह है कि इसी कारण से ही चतुर्वर्ण आर्यों ने जाति–वर्ण–भेदशून्य, परन्तु लोकप्रसिद्ध दारुदेवता को अपनाने के लिए मंत्रों की रचना की थी, मात्र अपना नहीं सके।

षष्ठ प्रकाश

दारुदेवता पर जैन प्रभाव

ठीक उसी समय, अर्थात्, आनुमानिक ईसा पूर्व 1000 से 700 तक केवल भारतवर्ष में ही नहीं, विश्व के दूसरे देशों में भी मानसिक चिन्तन का विकास होने लगा था। ईरान में जोरष्टर एक नये धर्म परिवर्तन के लिए प्रचेष्टित थे। कन्फ्यूसियस और लेत्सी चीन में एक अभिनव धर्मपंथ का प्रवर्तन करने के लिए दृढ़ीभूत प्रयास करने लगे थे। ज्यों ने बेविलोन के अवरोध में रहकर भी जाहोबा पर अपने विश्वास को दृढ़ करने लगे थे। ग्रीकों ने पाश्चात्य संस्कृति के कर्णधार के रूप में अपना परिचय देते समय वहाँ के दार्शनिक मानव जीवन की समस्या और समाधान को लेकर विचार आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया था। और रोमन साम्राज्य की नींव भी डाली जा चुकी थी। इस प्रकार एक विकासमय युग में भारतवर्ष में एक समन्वित सभ्यता और अभिनव संस्कृति का क्रमविकास संघटित हो रहा था, क्योंकि लड़ाई खत्म हो चुकी थी। विवाद में डूबे आर्य और अनार्यों के बीच दीर्घकालीन द्वन्द्व का अवसान हो चुका था, फलस्वरूप दोनों समुदायों के मन से धीरे–धीरे आतंक भी दूर होने लगा था। दोनों समुदाय अपने–अपने अधिकृत क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से अपनी सभ्यता की अभिवृद्धि के लिए जी–जान से लगे हुए थे। दीर्घकालीन संघर्ष के कारण आर्य जाति की भाँति अनार्यों में भी आदर्श और विचारों की संकीर्णता आने लगी थी, परन्तु वह संकीर्णता विजयी आर्यों की तुलना में पराजित अनार्यों में अधिक थी। फिर भी इसे मानवीय चिन्तन का सांकेतिक विकास कहा जा सकता है।

यह एक अनुमान ही है कि ऋग्वेद के दशम् मण्डल की रचना के प्रारम्भकाल में या रचना की समाप्ति के पूर्व युद्ध का अवसान भी हुआ था। अवश्य उस समय मण्डल के क्रम से सूक्तों की रचना नहीं होती थीं, परन्तु जिन–जिन कारणों को लेकर दशम् मण्डलीय सूक्तों को अपेक्षाकृत परवर्ती काल की रचनाएँ माना जाता है, उसे ही उपादान मानकर यहाँ इस प्रसंग पर चर्चा करने जा रहे हैं। परन्तु बस एक ही तथ्य पर निर्भर न होकर कुछ पारिवेशिक कारणों के माध्यम से भी लगता है कि उस अनुमान को प्रमाण सिद्ध किया जा सकता है।

सामान्य तौर पर देखा जाता है कि युद्धकालीन और युद्ध के बाद सामाजिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। जातीय विप्लव और दुःस्थिति के समय देशवासियों का धन, मन और जीवन सब कुछ उसी के लिए न्योछावर रहता है। सामाजिक विपदा के समय आबाल वृद्ध वनिता अपने पिता, पुत्र, भ्राता, भर्ता सभी के लिए दीर्घ जीवन की कामना से और आसन्न विपदा से मुक्ति के लिए देवता से प्रार्थना करते हैं। बलि चढ़ाने की मनौती भी मानते हैं। इसके साथ–साथ समस्याएँ मन में भय उत्पन्न करके कर्म–धर्म निर्विशेष से सबको एक मन एक प्राण से संगठित होकर प्रतिकार के लिए उत्साहित और प्रेरित करती हैं। सुतरां वे द्विगुणित उत्साह से युद्ध की आपदा से परित्राण प्राप्त करने के लिए तत्पर रहते हैं। उस समय सारे आमोद–प्रमोद, विलास–व्यसन गौण और अनावश्यक लगते हैं। देशप्रेमी सैनिकों के रणभूमि में देश के लिए वीरता एवं पराक्रम के साथ प्राणों की बलि चढ़ाते समय नगरवासी जनता के द्वारा उनके लिए मंगल कामना करते

हुए आराध्य देवता के आगे व्याकुल चित्त से प्रार्थना करना अत्यन्त स्वाभाविक है। इसमें कोई कृत्रिमता नहीं रहती, न ही कोई छल। वह प्रार्थना अति निर्मल एवम् यथार्थ हुआ करती है। ऋग्वेद के समय भी यही हुआ था। उस युग के आर्य नर–नारियों ने पराक्रान्त अनार्यों के प्रबल प्रतिरोध के द्वारा भयभीत होकर देवताओं का अपने आवास पर आवाह्न कर उनके आगे सहज, सरल भाषा में ह्रदय की वेदना को अभिव्यक्त किया है। अन्तःकरण के निगूढ़ क्रन्दन को शब्दब्रह्म के माध्यम से प्रकाशित किया है। येन केन प्रकारेण शत्रु का विनाश कर प्रार्थनाकारी अपनी मानरक्षा के लिए देवता को समर्पित करने के लिए जिस प्रकार खाद्य, पेय, लेह्य, चोस्य, आदि की व्यवस्था करते थे, उसका कोई अंत ही नहीं और अन्त में यही नैवेद्य और उपासना की रीति हो गयी। उसी से देवता ने प्रसन्न होकर शत्रु को सदैव के लिए पराजित किया है। यही कारण है कि ऋग्वेद के मंत्र ह्रदयस्पर्शी और महनीय लगते हैं।

बाद में सर्वग्रासी युद्ध की समाप्ति के पश्चात् मंत्र की रचना शैली भी भिन्न हो गयी। देवता के आगे करुण निवेदन की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। मंत्रों की रचना में भी पहले जैसी सरलता और मधुरता नहीं रही। रचयिता का दृष्टिकोण भी क्रमशः जटिलता की ओर मुड़ा। आद्य मंडलों के सूक्तों के साथ अन्तिम भाग के सूक्तों की तुलना करने पर इसका स्पष्ट अहसास होता है। अवश्य उस समय मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का कोई अभाव नहीं था। यह बस परिस्थितियों की अनिवार्यता है, ऐसा ही कहा जाना चाहिए।

मात्र यही नहीं, दीर्घकाल से अपनाए हुआ चिन्तनस्रोत का भी भिन्नमुखी होना स्पष्ट हो जाता है। तब तक आर्य इन्द्रादि को भाव में देवता और नीति में मनुष्य के रूप में देखता आया था। अपने अतिथि के रूप में अभीष्ट देवताओं को सम्मानपूर्वक यज्ञशाला में आमन्त्रित करके बाज, सोम, आदि आहार से तृप्त कर और उन्हें घर का मुखिया मानकर आपदा से रक्षा करने के लिए उनसे प्रार्थना करता था। वे देवता अपने कर्तव्य का पालन करते थे या नहीं, क्या पता, फिर भी वह कहता था –

उषो भद्रेभि रागहि दिवश्चिद्रोचनादधि।

बहन्त्वरुणप्सव उष वा सोमिनो गृहम्।।

अर्थात्, हे उषादेवी, तुम तेजस्कर अन्तरिक्ष से मंगलमय मार्ग हो कर उतर आओ। तुम्हारी अरूप किरणमाला तुम्हें सोमयुक्त यजमान के यज्ञगृह की राह दिखते हुए ले आएं। किसी सम्मानयोग्य अतिथि को जिस प्रकार गृहस्वामी आमंत्रित कर ले आता है, उसी भाँति ऋषि ने भी यहाँ उषादेवी को आमन्त्रित किया है। यद्यपि यहाँ स्तोता की भावना दिव्य है, फिर भी नीति मानुषी मात्र है। उस समय देवता और मनुष्यों में सम्बन्ध सरल, घनिष्ठ और जागतिक ही था। इस प्रकार की घनिष्ठता और सरलता हमें युद्ध के बाद मंत्रों में प्राप्त नहीं होती है। देवता कौन है? उसका रूप और आकार कैसा है? इसी प्रकार की अमीमांसित जिज्ञासा को लेकर वे व्यस्त रहे। इसके कारण स्वरूप ऋषियों के मन में भी संशय का भाव उत्पन्न हुआ। संशय दूर करने के लिए अनेक रचनाएँ भी की गईं, परन्तु सिद्धान्त के समय जगह–जगह असंलग्न भावनाएँ भी सामने आईं। उदाहरण स्वरूप –

नास दासन्नो सदागीत् तदानीं

नासीद्रजो नो व्योमा पारो यत्

किमावरीवः कुह कस्य शर्म

त्रम्भः किमासीद गहनं गभीरम्।

अर्थात् तब असत् (शून्य, नहीं) नहीं था या सत् (सत्ता है) नहीं था। रज (अन्तरिक्ष) नहीं था या व्योम (महाकाश) नहीं था। उन्हें ढक कर क्या था? कहाँ था? किस के भोग के लिए घन गम्भीर जल भी कहाँ था?

कहते समय –

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो बृब्राऽत्यतिष्ठद्धशाडंगुलम्।

भी कहते हैं। उसी प्रकार विभिन्न चिन्तन संवलित सूक्तों में दशम् मंडल और उसके परवर्ती संहिताओं के पृष्ठ परिपूर्ण हो उठे हैं। अवश्य दार्शनिक दृष्टिकोण से उसका आसन अत्यन्त शीर्षस्थ है, इसमें कोई द्विमत नहीं हो सकता। वरन् उसके द्वारा आर्य ऋषियों की चिन्तन–शक्ति का पता चलता है। किसी भी विवादकालीन रचनाओं की भावधारा का युद्धोत्तरकालीन रचनाओं के समय कैसा परिवर्तन हुआ था, यहाँ वही विचार्य है।

इसके अतिरिक्त युद्धोत्तरकाल की रचनाओं में एक और नया भाव समन्वय भी देखने को मिलता है, पर वह संख्या की दृष्टि से अधिक नहीं है। वे किसी देवता के लिए उद्दिष्ट कुसंस्कारादि दूर करने के लिए लिखे गये हैं। उनमें से 'अक्ष' सूक्त एक है। इसमें जुआरी जुए में सर्वस्व हारकर कैसे दुःख का अनुभव करता है और समाज में किस तरह लांच्छित होता है, यही वर्णित है। दशम् मण्डल के 108 सूक्त में भी इसी प्रकार से किसी देवता को निर्दिष्ट नहीं किया गया है। सुतरां, अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिम देवता विषयक स्तुति–स्त्रोत–प्रधान भाव के क्रम परिवर्तित होकर नवीन प्रकार के मंत्रों की रचना होने लगी। यह भी युद्ध की समाप्ति की परिणति है।

सामान्य गम्भीरता से विचार करें तो उल्लिखित तीनों परिवर्तनों के मूल कारणों तक पहुँचना कठिन नहीं होगा। सामूहिक समस्याओं के डरावने रूप सामने स्पष्ट दिखाई देते समय उससे उद्धार पाने के लिए संगठित प्रयास और एकीभूत उद्यम ने क्या कवि, क्या दार्शनिकों को एक ही दिशा में परिचालित किया, यह भी स्वाभाविक ही है। युद्ध करने के साथ–साथ जाति ने उपस्थित संकट से रक्षा पायी। मन से भय दूर हुआ। जातीय समस्याओं के समाधान के साथ–साथ व्यक्ति स्वातन्त्र्य भी निरर्गल हो गया। सबने अपनी–अपनी रुचि के अनुरूप पंथाओं को ग्रहण किया। कवि का कवित्व मात्र स्तुति–स्त्रोत में आबद्ध होकर नहीं रहा और समाज से कलंक दूर करने के लिए विनिर्युक्त हुआ। दार्शनिक चिन्तनधारा सिर्फ विश्वास पर आधारित होकर टिके न रहकर उसके लिए कारण खोजने लगी। जंजालमय कर्म–जीवन के लिए उपयोगी सरल साहित्य से लेखक का दृष्टिकोण गांभीर्य की ओर प्रसारित होने लगा। इन अनिवार्य कारणों के लिए पूर्व रचनाओं की भावधारा परवर्ती रचनाओं में परिलक्षित नहीं होती है। विशेषकर कुछेक अनार्य मनीषियों ने अपने को

विजेता आर्यों के व्यक्तियों के रूप में परिचित कराकर सरल साहित्य में नवीन दार्शनिक धाराओं को सम्मिलित किया।

मात्र यही नहीं, समूह संकट का अवसान होते ही आर्य जाति की रीढ़ स्वरूप एकता पूर्णतया टूट गई। परस्पर एकताबद्ध होकर समस्याओं का समाधान करना तो दूर की बात रही, वे आपस में ही नानाविधि द्वन्द्व करने लगे। जीविका, वासस्थान, प्रभुता, आदि को लेकर खींचातानी चलती रही, इसलिए वैदिक युग में अपने पितृ–पितामहों के द्वारा रचित ग्रन्थों पर टीका व्याख्यादि की रचना कर अपने–अपने सिद्धान्तों को सही बतलाने के लिए तत्पर हो गये। फलतः उन्हीं सिद्धान्तों के कारण तरह–तरह के गोत्र, शाखा, प्रवरों की सर्जना हो गई। आर्यावर्त में ब्रह्मावर्त, पांचाल, केकय, आदि आंचलिक विभागों की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। उन सबसे कहीं अधिक आवश्यक स्थितियों के कारण गुण और कर्म के अनुसार विभाजित जातिप्रथा क्रमशः उत्तराधिकार सूत्र से जन्मगत होने लगी। वर्णपति और पृथ्वीपति अर्थात् ब्राह्मण और राजा के बीच समाज की प्रभुता और नेतृत्व को लेकर विद्वेष का बीज धीरे–धीरे अंकुरित होने लगा। कुरु, पांचाल, आदि कुछ राज्यों में जब ब्राह्मणों का आधिपत्य स्वीकृत था, तब काशी, कोशल, मगध, आदि राज्यों में इसके लिए स्वीकृति नहीं थी। फलतः प्रत्येक क्षेत्र में दोनों जातियों के बीच स्पर्द्धा सर उठाने लगी। अन्त में जंजालहीन आर्यों की आलस्य–परायणता जिस प्रकार से बढ़ने लगी, उसी प्रकार भोग–विलास की लालसा भी प्रबल होने लगी। अतः सुख दुःखादि के कारण सौभाग्य, सम्पत्ति, रोग, मृत्यु, आदि को देवताओं के रूप में चित्रण करना आरम्भ हो गया। परवर्ती काल के श्रीसूक्त, यमसूक्त, आदि की जड़ यही है, ऐसा प्रतीत होता है।

इधर अनार्यों के साथ सदा से चलते आए विवाद का समाधान होने के कारण काल की गति के अनुसार विद्वेष का परिणाम भी घटने लगा था। एकत्रावस्थित आर्य और द्राविड़ आपस में अपने–अपने धर्म और दर्शन के प्रभाव को विस्तारित करने का प्रयास करने लगे। आर्यों के मौलिक धर्म, यज्ञादि क्रियाकांड के साथ सैंधवयुग के अनार्यों का पाशुपत धर्म भी आर्य ग्रन्थों में स्थानित होने लगा। फलतः ''सर्वमेध सर्व हिंसात'' और ''मा हिंस्यात् सर्व भूतानि'' जैसे दो वर्गों के मतवाद समांतराल हो व्याप्त होना शुरू हो गए।

उसी समय पंचविंशति सांख्यदर्शन का बीजारोपण हुआ था, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। इस दर्शन का 'प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति' का तत्व सम्भवतः द्राविड़ या जैन दर्शन से आहरित है। जैन दर्शन में मूलतः सात तत्व हैं – 1. जीव, 2. अजीव, 3. आश्रव, 4. बंध, 5. बंधच्छेद, 6. कर्मच्छेद, 7. निर्वाण। इन सात तत्वों से फिर जीव को 'स्थावर' और 'त्रस' में विभाजित किया गया। ''जैन सृष्टि तत्व'' की अनुक्रमणिका इस प्रकार होगी।

जैन सृष्टि तत्व

मूलतः सात

1. जीव, 2. अजीव, 3. आश्रव, 4. बंध, 5. बंधच्छेद, 6. कर्मच्छेद, 7. निर्वाण।

जीव की विभाजित संज्ञाएँ – 1. स्थावर, 2. त्रस।

अजीव की विभाजित संज्ञाएँ – 1. पुष्कल, 2. धर्म, 3. अधर्म, 4. आकाश, 5. काल।

बंध की विभाजित संज्ञाएँ – 1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. मोहावरणीय, 4. वेदनीय, 5. आयुष्मक, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अंतराय।

स्थावर से – 1. पृथ्वी, 2. जल, 3. तेज, 4. वायु, 5. उद्भिदसार, 6. निखाद।

त्रस से – 1. द्विंद्रिय, 2. त्रिंद्रिय, 3. चतुरिंद्रिय, 4. पंचेंद्रिय (ज्ञानवान)।

पंचेंद्रिय – 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतिज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्यायज्ञान, 5. केवल ज्ञान।

जैन सिद्धान्त में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता। आत्म शरीर या जीव अजीव के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और वही भावी बंधन का मूल कारण होता है, इसीलिए नयी–नयी सृष्टि देखने को मिलती है। उस सृष्टि से रक्षा पाने हेतू 'निर्वाण' प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। पहले कर्मच्छेद करना पड़ता है, क्योंकि नानाविध कर्मबंध के द्वारा आत्मा आवृत्त रहती है। कार्मण शरीर का नाश कर पाने से ही निर्वाण आसान हो पाता है।

यहाँ फिर जैन दार्शनिकों के मन में एक और प्रकार का संशय जागा। वह यह है कि आत्मा अविनाशी है या विनाशशील। इसके समाधान स्वरूप वे आत्मा को अविनाशी बतलाते हैं, परन्तु वस्तु के साथ उसका सम्बन्ध विनाशशील है। यह सच है कि सभी जैन दार्शनिक इससे सहमत नहीं हैं। उन्होंने इस उत्तर को स्वीकार नहीं किया है। यदि स्वीकारते तो इस सम्बन्ध में सात अलग–अलग मतवाद नहीं पाए जाते। शायद कोई किसी सर्वसम्मत सिद्धान्त तक नहीं पहुँचे हैं, इसीलिए वे उसे भिन्न–भिन्न नाम से अभिहीत करते हैं –

1. स्यात्–अस्ति वाद
2. स्यात्–नास्ति वाद
3. स्यात् अस्ति च नास्ति च वाद
4. स्यात् अवक्तव्यं वाद
5. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं च वाद
6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च वाद
7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च वाद

उल्लिखित सभी प्रकार के मतवादों की तुलना करके उसमें से कौन सा अधिक तर्कसिद्ध है, यहाँ यह विचारणीय नहीं है। परन्तु उनमें निहित 'तत्व' और आत्मा तथा वस्तु के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, ये दो बातें सांख्यदर्शन में किस प्रकार गृहीत हुई हैं, उसे दर्शाना आवश्यक है। सांख्यदर्शन में इस सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। सांख्यकार कहते हैं – प्रकृति जड़ है और पुरुष चैतन्य। दोनों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात सांख्यकार जैन दार्शनिकों से कुछ विषयों में स्वतन्त्र हो गए हैं। जैन सिद्धान्त के अनुकरण से इस तत्व (पंचविंशति) की बात को मान लेते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और मोक्ष लाभ के क्रम यद्यपि दोनों के मत में भिन्न हैं, तथापि मूल सिद्धान्त एक ही है। इसी अध्याय में सांख्यकार के पंचविंशति तत्वमूलक सृष्टि का उत्पत्ति–क्रम भी है। जब तक प्रकृति और पुरुष में संयोग

नहीं होगा, तब तक सृष्टि का भी अस्तित्व नहीं होगा। जिस मुहूर्त में दोनों का संयोग होता है, उसी पल सृष्टि उत्पन्न होती है और दोनों के वियोग मात्र से ही उसका विलय होता है। इसमें ईश्वर की सत्ता ही नहीं है, जैन दर्शन में भी नहीं है। परन्तु भेद यह है कि सांख्यकार ने अपने मत को वेद–प्रमाण के मतानुसार वैदिक करने का प्रयास किया है और जैन दार्शनिक ने वह नहीं किया है। इसलिए ''निरीश्वरवादी'' सांख्य दर्शन की गणना आस्तिक दर्शन के रूप में होती है और 'स्यातस्तिवादी' जैन दर्शन नास्तिक कहलाता है।

सांख्य दर्शन के पंचविंशति तत्व

तत्व – 1. पुरुष, 2. प्रकृति

प्रकृति से 'महान' (बुद्धि), उससे अहंकार और अहंकार से **–** 1. तन्मात्र तथा 2. इन्द्रिय।

तन्मात्र से –

1. क्षिति (पृथ्वी–स्थूल), 2. अप (जल–स्थूल), 3. तेज (तेज–स्थूल), 4. मरुत (वायु–स्थूल) और 5. व्योम (आकाश–स्थूल)।

इन्द्रिय से –

1. ज्ञान, 2. मन और 3. कर्म और इन तीनों से – 1. जिह्वा, 2. नासा, 3. चक्षु, 4. श्रोत्र, 5. त्वक, 6. वाक्, 7. पाणि, 8. पाद, 9. पायु, 10. उपस्थ।

इसके अतिरिक्त अनार्य जैनों का जन्मांतरवाद भी आर्य दर्शन में अलक्षित रूप से प्रवेश कर गया है। छांदोग्योपनिषद् में वर्णित ''आरुणी–श्वेदकेतु संवाद से वही अनुमित है। यह होने के लिए सदियों की व्याख्या की आवश्यकता हुई होगी, इसमें कोई संदेह नहीं। इसी को लक्ष्य कर जिमर (Zimmer) कहते हैं – वैदिक युग के आर्य मुनि जन्मांतर की बात बिल्कुल नहीं जानते थे। अब वेदमूलक ग्रन्थों में जन्मांतरवाद की जो चर्चाएँ पाई जाती हैं, वह परवर्तीकाल में ब्रह्मर्षि आरुणी से उनके पुत्र ने ज्ञान प्राप्त कर देश–विदेश में प्रचारित किया था। दुःखपूर्ण जीवन के आवर्तन वाली बात की सबसे पहले अनार्य सम्प्रदाय में चर्चा हुई; उन्हीं के द्वारा जिनके उत्तराधिकारी महावीर वर्धमान तथा भगवान बुद्धदेव थे, के समय ब्राह्मणों की संकीर्ण रक्षणशीलता के विरुद्ध स्वर उठाया गया था, उन्होंने ही ऊँचे आध्यात्मिक ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणों में उसे वितरित किया था और उन ब्राह्मणों ने आत्मगौरव का परित्याग कर उसकी सत्य जिज्ञासा को अनिवार्य माना।

अतः ज्ञात होता है कि पुनर्जन्मवाद को जैन दर्शन से आर्य दर्शन में ग्रथित होने के लिए शताधिक वर्ष लगे होंगे। वह युद्ध परकालीन एकत्रावस्थान के लिए ही संघटित हुआ होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पुनर्जन्मवाद की तरह समाधियोग भी अनार्य धर्म से आहरित हुआ है, ऐसा पंडितों का मत है। अतः ऋग्वेद से उन योग समूहों का कोई स्पष्ट संकेत न मिलने पर भी परवर्ती ग्रन्थों में उसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त एक–दूसरे पर एक–दूसरे की भाषा के प्रभाव के कारण एक नयी भाषा की भी सर्जना होने लगी। द्राविड़ भाषा से सम्बन्ध के कारण आर्य भाषा में जिस प्रकार मूर्धन्यवर्ण, सरल युक्ताक्षर और नादवर्ण के बदले

श्वासवर्ण की बहुलता पायी गई, उसी प्रकार आर्य भाषा के शब्द संभार से द्राविड़ भाषा भी परिपुष्ट होने लगी। एकत्रावस्थान के कारण जो अनिवार्य है, वह दोनों समुदायों में देखा गया। संक्षेप में कहें, तो युद्ध की समाप्ति के दूसरे पल से ही आर्यों और अनार्यों में एक सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ।

उल्लिखित महायुद्ध के अवसान ने जिस प्रकार पराजित समाज पर युगांतकारी परिवर्तन की रेखा खींच दी, उसी प्रकार विजयी समाज के धर्म, समाज, भाषा, साहित्य सबमें तहलका मचाते हुए एक नयी सृष्टि का नांदीपाठ किया। युद्ध के आरम्भ से पहले जो सन्यास और अहिंसा धर्म अनार्य जैन समाज के रग–रग में समाया हुआ था, युद्ध के अन्त में देखा गया कि उसमें भिन्न–भिन्न प्रकार के आदर्शों और मतवादों के प्रवेश से वह खिचड़ी सा हो गया है। जैन धर्म का मूल आदर्श धीरे–धीरे शिथिल होने से आर्य समुदाय का यज्ञवाद अलक्षित रूप से प्रतिष्ठा पाने लगा। हिंसात्मक युद्धकाण्ड के समय अहिंसा के अस्तित्व का टिक पाना आसान नहीं है। इसी कारण से शायद अनार्य समुदाय में तान्त्रिकवाद या भैरवोपासना की तरह नूतन मतवाद का आरम्भ हुआ और काल के स्रोत में बहकर वही मत आप्तवाक्य या वेद–प्रमाण के बलबूते पर परवर्ती युग तक शुद्ध वैदिक बन गया। उधर आर्य समुदाय में 'अथर्व' नामक एक अभिचारिक क्रिया–सम्पन्न चतुर्थ वेद की उत्पत्ति हुई। केवल यही नहीं, वैदिक ब्राह्मण शब्द मात्र तांत्रिक ब्राह्मण के लिए उद्दिष्ट होकर रह गया, परन्तु यथार्थ में देखा जाए तो वह अनार्य या द्राविड़ों के क्रियाकाण्ड से ही जन्मा था। इसलिए परवर्ती वेदविद शायनाचार्य ने वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हुए 'रुद्र' शब्द के अर्थ के रूप में 'पार्वतीपति रुद्र' कहा है, जबकि ऋग्वेद की रचना के समय न 'पार्वती', न 'पति', किसी का भी अस्तित्व नहीं था।

जो भी हो, जाति–जाति में लड़ाई हो तो अहिंसावादी या तो आत्समर्पण करेंगे या धर्मत्यागी होंगे। दोनों में एक का होना स्वाभाविक है। हो सकता है कि श्रद्धा से शत्रु के हाथों में सब कुछ अर्पित कर देंगे और पराधीनता स्वीकार कर लेंगे। नहीं तो अहिंसा को परे हटाकर निर्दय निष्ठुरता से शत्रु का विनाश करने लगेंगे। इसके अलावा कोई गत्यंतर नहीं। यह संसार का साधारण नियम है। इस नियम की बर्हिभूत द्राविड़ जाति ने कापुरुष भीरु की तरह युद्ध के बिना ही शत्रु के हाथों राज्यार्पित कर वासशून्य और पराधीन हो कर रहने के बदले धर्मत्यागी हो कर स्वाधीन रहना ज्यादा पसंद किया है। सूच्यग्र परिमित भूमि के लिये शतयोजन विस्तृत भूमि को रक्तरंजित करने के लिये कुंठित नहीं हुआ है। यही कारण है कि ''अहिंसा–सत्य–अस्तेय'' मूलक साधना मार्ग से हटकर प्रलयंकर मूर्तिधारी महाकाल या महाभैरव की उपासना का आग्रह किया है। महायोगीश्वर ऋषभनाथ को सपत्निक कर महाकाल रुद्र बनाया है। सिन्धु–सभ्यता काल से सर्वदेवता की रुद्र के रूप में कल्पना कर पूजा की है।

उसी के साथ–साथ भैरवोपासना के सांगोपांग पंचमकार की सेवा करने से पीछे नहीं हटा है। मूल धर्म की आध्यात्मिकता और निर्वाण प्राप्ति की साधना का विपन्नता के भाव से भौतिक सुख को प्रमुख स्थान देते हुए कहा – ऐहिक सुख के बाद पारत्रिक सुख या निर्वाण अर्थात् ऐहिक सुख ही निर्वाण प्राप्ति का प्रधान हेतु है। यही तन्त्रवाद का मूल तत्व है। इस ऐहिक या भौतिक सुख साधन की प्राप्ति के लिए साधक ने अपने को 'शिव' या भैरव मानकर अपना

आत्मपरिचय दिया है। इससे सुप्त शक्ति उद्रिक होती है और सुख संभोग पूर्ण होता है। अर्थात् संसार के दैनन्दिन अभावों और प्रयोजनों को पूरा कर पाने से आध्यात्मिक चिन्ता या चिन्ता के कारण सुख आसान हो जाता है। फलतः निर्वाण प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है। सर्वदा जीवन धारण की चिन्ता मन में अंतर्दाह भरती रहे, तो आध्यात्मिक भावना कैसे आएगी? कैसे निर्वाण की प्राप्ति होगी? वह नहीं है तो योगी के लिए योगपंथ पहले से ही चुन लेना होगा। वह नहीं है तो योगी के लिए योग साधना कष्टदायी होगी। इसी मत के अनुसार भोग के जरिए योग की साधना उत्कृष्ट है। भोग ही योग साधना का प्रमुख अवलंबन है। इसलिए योगी को संहार मूर्ति धारण करना पड़ता है। पहले दुर्दान्त शत्रु के मूलोच्छेदन के द्वारा अपने देश और जाति की शान्ति सुनिश्चित कर निर्वाण के लिए साधना करना चाहिए। क्योंकि अस्तित्व रहने की संभावना न हो तो योग की साधना कौन करेगा? ''शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'' चिरन्तन रीति है, इसलिए वह स्वर्ग राज्य से उतर कर विशुद्ध पिशाच बना है। मद्य, मांस, मैथुनादि सभी नीच कर्मों को बाहें पसार कर उसने गले लगाया है। उसके द्वारा उसका तेज द्विगुणित, शक्ति दशगुणित और साधना में दृढ़ता शतगुणित हुई है। मात्र इतना ही नहीं, सोचकर उसने ''शिवो हं भैरवो हं'' का उच्चारण भी किया है। यहाँ मोहन जोदड़ो कालीन ''सर्वजीवदयापर'' ऋषभ या जिनेश्वर कापाली रुद्र बन गए हैं, अर्थात् शत शत जीव हिंसाकुल महायुद्ध के बेलगाम प्रभाव से 'जीवे दया' वादी जैन धर्म ने कलंकित होकर तंत्र के नाम से हिंसा, अनाचार की चरम सीमा में पहुँचकर आत्मप्रकाश किया है और वैदिक यज्ञादि के अनुकरण से अनुष्ठित होम–बलि के समय ''ऊँ धर्माधर्महर्विदीप्ते आत्मानं मनसा श्रुचा सुषुमावर्त्मना नित्यं अक्षत्तिहोम्यहम् स्वाहा'' कहकर पूर्णाहुति प्रदान की है। यहाँ उसने धर्म अधर्म किसी भी विषय के प्रति दृक्पात नहीं किया है। उसने मात्र भौतिक शरीर के लिए सुख संभोग की कामना ही की है। हो सकता है, यहीं पुराणों में वर्णित असुरों की तपःसाधना है, शिव से वर की प्राप्ति है। शिव अकेले भैरव–पशुपति हैं। उन्हें सन्तुष्ट करके पता नहीं कितनी बार अनार्य असुर जाति ने आर्य देवताओं को प्रताड़ित किया है, उसकी गिनती नहीं। अन्त में बलि प्रथा को लेकर अनार्यों ने अर्जुन जैसे आर्यगुरु को बलि चढ़ाया है। वह मात्र अश्वमेध, गोमेध से सन्तुष्ट न रहकर नरमेध, स्त्री व बालमेध की भाँति कुत्सित 'मेध' तक के लिए शंकित नहीं हुआ है। उस काल में ही क्यों, इस परमाणु काल में भी 'देवी' के आगे अबोध शिशुओं की बलि चढ़ाए जाने की बात सबको पता है। यह सत्य है कि यह तन्त्रवाद के रूप में पुष्पित पल्लवित हुआ है, परन्तु इसका आदिम अंकुरोद्गम यज्ञ–धर्म में निहित है।

उल्लिखित आलोचना से पता चलता है कि जैन या असुर धर्म परवर्ती शैव पाशुपत सिद्धान्त का आदिम रूप है। इसीलिए आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डाक्टर जी. यु. पोप ने इसे द्राविड़ीय चिन्ता शक्ति की विलक्षणता बताया है – The choicest product of the Dravidian intellect. रेवरेण्ड W. F. Gaudie ने भी उसी दृष्टिकोण से प्रसंग पर बिन्दुवार चर्चा करते हुए कहा है – शैव पंथ ने अतीत परम्परा के महत्व को कायम रखा है। इसे दक्षिण भारत के सभी प्राचीन धर्मों का पितामह कहना असंगत नहीं माना जाएगा। धार्मिक चिन्तन और विश्वास तथा जीवन के विश्लेषण की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शैव सिद्धान्त दक्षिण भारत में प्रचलित सभी सिद्धान्तों में

शिरोमणि है। परन्तु भरतमुनि के काल तक उस सिद्धान्त की घटोत्तरी हो चुकी थी। तब तक शिव भैरव के रूप में चित्रित हो चुके थे। अतः कह सकते हैं कि भरतमुनि के समय तक भैरवोपासना को प्रसिद्धी मिल चुकी थी। इसलिए तन्त्रवाद या भैरवोपासना को, जिसे महायान पंथ का परिवर्तित रूप बतलाते हैं, वह तर्कसिद्ध नहीं लगता।

वरन् यह महासमर के मध्यभाग में अनार्यों पर आर्यवाहिनी के अप्रतिहत आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ सा लगता है। अहिंस्र और सहिंस्र जाति के बीच युद्ध होते समय हिंसाधर्मी से अहिंसाधर्मी सर्वदा पराजयजनित अपमान झेला ही करता है। पराजित जाति के मन में अपने धर्म के प्रति वितृष्णा तब एक सामान्य सी बात हो जाती है। जब उसने देखा कि शत शत पशुमारणपूर्वक देवता के नाम से धर्म के बदले अनाचार करने वाले सभी क्षेत्रों में विजय प्राप्त कर रहे हैं और इधर अहिंसा पर प्रतिष्ठित धर्मावलम्बी बारम्बार ध्वस्त होते जा रहे हैं, तब अहिंसा का मार्ग त्याग कर विजयी का अनुसरण करते हुए एक हिंसापरक धर्म की स्थापना करनी चाही। वह ही अंत में शैव–शाक्त–पाशुपत–महाकाल आदि तांत्रिक नामों से अभिहीत हुआ।

इसके अलावा अनार्यों की भाषा और संस्कृति पर आर्यों का प्रभाव कम नहीं पड़ा है। तब तक अनार्य होम, बलि, यज्ञ, स्तुति, आदि के बारे में अनभिज्ञ थे। उनके देवता जीवंत तीर्थंकर या धर्मगुरु थे। उनका उपदेश ही उनके लिए वेद था। उनके द्वारा अनुष्ठित क्रिया ही आदर्श–धर्म माना जाता था। उनके देहत्याग या निर्वाण प्राप्ति के अनुसरण या अनुकरण को ही जीवन का कर्तव्य माना जाता था। ये सब जैन संस्कृति के मूलाधार थे, परन्तु आर्यों के साथ सहवस्थान के फलस्वरूप बलि, होमादि क्रियाओं के लिए देवता को कल्पित मानकर उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए नानाविधि मंत्र–जाप, आदि का प्रचलन शुरू हो गया। आर्यों के इन्द्रादि देवताओं की भाँति ये भी भैरव महाकाल की स्तुति करने लगे। फलतः निरामिषाशी योगीश्वर को अनार्यों द्वारा आमिषाशी बना देने के कारण दैनंदिन शरीर धारण की रीति में काफी परिवर्तन आया। इसके साथ–साथ व्यवहृत भाषा में भी कुछ नये शब्द मिले और अपभ्रंश शब्दों का सिलसिला प्रारम्भ हो गया। महाप्राण और नादब्रह्म प्रधान वैदिक शब्दमाला अनार्यों के द्वारा शुद्ध रूप से उच्चारित नहीं हो पाए। जो शब्द सरल और सुकुमार थे, उनके यथार्थ उच्चारण के लिए अवश्य कोई असुविधा नहीं हुई होगी। इसलिए मूल भाषा की तरह अपभ्रंश भाषा में भी वे शब्द अपरिवर्तित रहे। अतएव प्राकृत भाषा के समय तत्सम्, तद्भव, देशीय इस तरह तीन वर्ग के शब्द पाए गये। अवश्य यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती प्राकृत व्याकरणकारों ने प्राकृत शब्दों को तत्सम और तद्भव ऐसे दो ही वर्गों में विभाजित कर देशी शब्दों की सत्ता के विलोपन के प्रयास नहीं किए हैं। फिर भी देशी तद्भव हो नहीं पाया। पर्याप्त प्रयास के बाद भी कंदट्टो, अक्क, अल्ल, सुतों जैसे शब्द तद्भव हो नहीं पाए। इन्होंने ही प्रमाणित कर दिया है कि किसी सूत्र के द्वारा कथित भाषा को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। अतः तर्कहीन आदेश से अर्थात् ''दाढ़ादयो बहुल'', ''भ्यमो हिंतो सुंतो'' की तरह सूत्र बनाकर बलपूर्वक अपभ्रंश बनाया गया। यथार्थ में ये अपभ्रंश या तद्भव शब्द नहीं हैं। ये देशी और विशुद्ध अन–आर्य शब्द हैं। इनके अलावा गंगा, पूजा आदि अन–आर्य शब्दों के आर्यीकरण में भी उन सबके भरपूर प्रयोग पाए जाते हैं। परन्तु उनमें से गंगा, आदि कुछ एक मूलतः आष्टिक और पूजा, आदि द्राविड–मूल

शब्द हैं, ऐसा इतिहासकार प्रमाणित करते हैं। इसी से लगता है कि अन–आर्य शब्दों को लेकर जिस भाँति आर्य भाषा परिपुष्ट होने लगी, उसी प्रकार आर्यों के शब्द भण्डार से अनार्य भाषाओं की भी संवृद्धि होने लगी। यह युद्धोत्तरकालीन एकत्रावासस्थान का परिणाम है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा। पूर्वोक्त परिवर्तन के साथ–साथ अनार्य और द्राविड़ों में एक और विपर्याय भी देखा गया। वह है राज्य गोष्ठियों का गठन। पहले से कहा गया है कि आर्यों के अप्रत्याशित आक्रमण के द्वारा भयभीत होकर अनार्यों ने उत्तर उपत्यका त्यागकर मध्य भारत होते हुए दाक्षिणात्य की ओर पलायन किया था। उनमें से कुछेक पूर्व उपकूल क्षेत्र की ओर भी सपरिवार चले आए। तब शायद दक्षिण भारत का भाग जनाकीर्ण नहीं था, जिससे पलायनकर्ताओं ने निर्भय होकर बस्तियाँ बसाईं और जी–जान से अपनी संस्कृति और दृष्टि की अभिवृद्धि के लिए जुट गये। इसी कारण से उस क्षेत्र में अनाविल द्राविड़ ऐतिह्य अब भी है, परन्तु जो पूर्वांचल की ओर आए उनकी संस्कृति के साथ प्रटोअष्ट्रोलएड और आदिवासी सभ्यता का प्रभाव इस प्रकार घुलमिल गया कि अब उसे स्पष्ट रूप से पहचानना कठिन है। पर यह गौर करने लायक है कि पहले जिन्होंने वासभूमि के प्रति आग्रह न करते हुए नयी जगह बस्ती बसाना चाहा, उन्होंने दूरी के कारण हो या सर्वग्रासी काल की अनिवार्यता के लिए हो, एक दूसरे से अलग रहकर स्वतन्त्र गोष्ठी गठन का बीज रोपा। फलस्वरूप अवन्ती, कुंत, साल्व, सौराष्ट्र, आदि नये–नये नाम सामने आए। सूत्र युग के आरम्भ तक यह विभेद बढ़कर इनकी संख्या और भी अधिक हो गई। यह पाणिनी की अष्टाध्यायी सूत्र तथा जातक आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

भारतवर्ष के सुदूर उत्तर, दक्षिण और पश्चिम क्षेत्रों में उल्लिखित परिवर्तन के होते समय पूर्वी सीमान्त प्रदेश में क्या हो रहा था, इस पर भी चर्चा आश्यक है। सैंधव सभ्यता की प्रतिष्ठा के पहले आदिवासी शबर समुदाय ने इस वन्य प्रदेश में आकर अपने लिए स्थायी बस्तियों का निर्माण किया, यह मिथ्या नहीं। उन्होंने आगन्तुकों के अत्याचार से परित्राण पाने के लिए इस तरह के अगम्य और श्वापदसंकुल भूभाग को वासोपयोगी माना। प्राचीन परम्परा के अनुसार अनुष्ठित वृक्षोपासना और उसका अवशेष दारुपूजा यहाँ सम्पन्न होती थी। इसी उद्देश्य से पूर्वसागर के तट पर अश्वत्य, नीम, उदुम्वरादि वृक्षों से परिपूर्ण क्षेत्रों को उन्होंने उपासना के लिए उचित स्थलों के रूप में चुना था। शायद वहीं उनकी परवर्ती दारुपूजा की पहली नींव डाली गई थी। शबर विश्वास में पारम्परिक निष्ठा ही इसका कारण थी। वे आसानी से परम्परा को त्यागने को तैयार नहीं थे। अच्छा हो या बुरा, जो पूर्वज करते आए थे, वही उनके लिए करणीय है, मंगलदायी है। अतः वे उसके लिए कोई हेतु तलाशने नहीं जाते। कारण ढूंढ़ना भी उनके लिए मानो अपराध ही है। इसीलिए अकस्मात अगर कोई कुछ पूछता है तो वे निरुत्तर रहना अधिक पसन्द करते हैं। जवाब देते भी हैं तो अत्यन्त संक्षेप में, वह भी सहज सरल। ''रहने दो बाबू, जो है वह ठीक ही है।'' विश्वास में और किसी कारण के लिए कोई स्थान नहीं। इसलिए परवर्ती काल में इस विश्वास को ही 'अहेतुवाद' कहा गया है। महावीर के तोषली आते समय वहाँ अहेतुवादियों की प्रतिपत्ति थी, ऐसा इतिहासकारों का कहना है। यहाँ 'अहेतुवादी' शबरों को ही कहा गया है, क्योंकि शबर ने ही अपने विश्वास या धर्म के 'कारण' को स्थान नहीं दिया है, अब भी नहीं। वह पुरातन को छोड़ने के लिए कदापि

तैयार नहीं; इसलिए पुरातनकाल से उपासित वृक्ष के शुष्क हो जाने पर, यहाँ तक कि शाखा–प्रशाखा विहीन हो जाने पर भी उस 'दारु' की पूजा करता आया है। पंडितों का कहना है, ''चिन्तन की अग्रगति, चाहे मंथर क्यों न हो, साथ–साथ वृक्षदेवता के स्थान पर दारु, युप, काष्ठ–प्रतिमा, आदि देव प्रतिनिधि के रूप में पूजित होने लगते हैं और वृक्षदेवता के तन आकृतिवान होकर अतिमानुषी–शक्तिसम्पन्न देवता के रूप में उपासित होते हैं। इसे परवर्ती प्रतिमा पूजा का मूल कहा जा सकता है।'' अंतिलस के लोगों का विश्वास है कि कुछेक वृक्षदेवता अपने ही तन को आकृति देकर किसी पवित्र स्थान पर प्रतिष्ठा के लिए निर्देश देते हैं, क्योंकि वहाँ रहने से उनकी पूजा आसानी से हो सकती है। इसे स्कन्द पुराण वर्णित इन्द्रद्युम्न महाराज के स्वप्न और समुद्र जल में तैरते आये महादारु को लेकर जगन्नाथ जी की मूर्ति गठन की कहानी के साथ सहज और सुन्दर रूप से मिलाया जा सकता है।

इसलिए शबर 'वृक्ष' के बदले केवल दारु की उपासना करता आया है और किसी भी वस्तु की उसने पूजा करना नहीं चाहा। कभी अगर मूर्ति के लिए मन किया है तो यह दारु मूर्ति ही थी और कुछ नहीं। यही उसकी परम्परा है, आत्मविश्वास है। इसलिए ये परम्परा सभी विधि–विधान, जैसे शाखा या पत्ते रखकर उसके आगे साष्टांग प्रणाम करना, आकस्मिक उपार्जित आहार से बड़ा हिस्सा देवता को समर्पित करना, पर्व और त्योहार के दिनों में स्त्री–पुरुष सभी के द्वारा देवता के आगे नाच गाकर देवता को सन्तुष्ट करना, अंत में सिद्ध–असिद्ध अन्न, अन्न पकवान और मीठे पकवान को छुआछूत का भेद न रखते हुए एकत्र होकर भोजन करना, आदि को अब तक मानते आए हैं। ऐसा ही उस युग में भी उन्होंने किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। उसमें कोई बाधा नहीं थी, न ही कोई बाधा देने वाला था।

पर परवर्ती युग में एशिया की ओर से सागर की लहरों की भाँति अबाध गति से आर्यों के आने के कारण सैंधव जाति परेशान होकर इधर–उधर भागने लगी। उनमें से कुछेक इस आदिवासी शबर अध्युषित क्षेत्र में भी आए, ऐसा पहले ही कह चुके हैं। इसी से लगता है कि ये सपरिवार आकर पहले से निवास करने वाले शबरों के साथ अपने आपको पूरी तरह से सम्मिलित करने के लिए यत्नशील हुए होंगे। सामाजिक रीति–नीति, आचार–व्यवहार, धर्म–उपासना सभी क्षेत्रों में उन्हीं का अनुसरण किया होगा। इसके कारण नवागत की पूर्व प्रचलित रीति–नीतियों में भी अभूतपूर्व परिवर्तन आया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके विपरीत यह नहीं कहा जा सकता कि नवागत सभ्यता का क्षीण प्रभाव भी आदिम सभ्यता पर नहीं पड़ा होगा। सुतरां, विदेशी द्राविड़ों ने स्वदेशी शबरों की देखा देखी जिस प्रकार आमिषाहार, दारु उपासना, आदि को अंगीकार किया, उसी प्रकार शबरों का भी उन्हीं की देखा देखी स्थायी वासगृह का निर्माण, वाणिज्य व्यापार, प्रतिमा निर्माण, आदि के लिए मन किया होगा। विदेशी द्राविड़ों ने स्वदेशियों के दारु के आगे दण्डवत् प्रणाम किया, तो स्वदेशी शबरों ने भी विदेशियों की देखा देखी दारुखण्ड को दारुविग्रहों में रूपान्तरित किया। विदेशी द्राविड़ शबरों के अनुकरण से वृक्षदेवता को स्वकीय 'जैन' धर्म का प्रतीक 'कल्पवृक्ष' माना और स्वदेशी शबर अपने वृक्षदेवता की कल्पवृक्ष के साथ सम्बन्ध की परिकल्पना कर उपासना करने के लिए कुंठित नहीं हुआ। इसी दान और प्रतिग्रहण के क्रम में शबरों को द्राविड़ों का सुमहत्तर दान है – ''सामाजिक विकास का मूल है समूह ज्ञान या गोष्ठीधारणा''। उसी दिन से

शबरों में समूह ज्ञान विकसित होने लगा।

इसके अतिरिक्त स्पष्ट दिखाई देने वाला परिवर्तन है – एक दूसरे की भाषा में पारस्परिक आदान–प्रदान। तब तक आदिवासी शबर अपने भाव व्यक्त करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे, वह सीमित और दुर्बल थी। अपने यायावर जीवन के लिए उपयोगी थोड़े से शब्दों के अतिरिक्त मनोगत भाव विनिमय के लिए नये शब्द नहीं जुटा पाता था, परन्तु द्राविड़ों के सानिध्य में आकर उसने सभ्यता का जो आद्य आलोक देखा तो उसके साथ मिलने–जुलने के लिए वह नए और अपरिचित शब्दों के प्रयोग करने के लिए बाध्य हो गया। फलतः अनेक द्राविड़ शब्द शाबरी भाषा में नीर–क्षीर न्याय से अनुप्रवेश करने की भाँति संख्या लघु द्राविड़ों की भाषा में संख्याधिक शबरभाषियों के शब्द भी अज्ञात रूप से आ गए। इसलिए दिण्डा, छपा, पिल्ला, डुक्रा, आदि शाबर शब्द दिण्डा, छापा, पिइले के रूप में द्राविड़ भाषा में आए। इसी प्रकार तोटा, मीना, पण्डा, आदि अनेक द्राविड़ शब्द शाबर भाषा के प्रयोग में आए। इसलिए मुण्डेरी या शाबरी भाषा द्राविड़ भाषा से सम्पूर्ण रूप से अलग होने के बाद भी अति प्राचीन काल से दोनों के सहवस्थान के फलस्वरूप उनमें निकटता इतनी अधिक हो गयी है कि गंजाम के माल क्षेत्र की शाबर भाषा का विश्लेषण कर उन्हें अलग कर दिखा पाना असंभव सा लगता है, इसलिए उन्हें मिश्रित (Mixed) भाषा कहने से भी कुछ विद्वान कतराते नहीं हैं।

चाहे जो भी हो, व्यष्टि जीवन में समष्टिगत स्वार्थ की आवश्यकता के बारे में सबसे पहले शबरों ने द्राविड़ों से सीखा। परन्तु दुःख की बात यह है कि तब तक आदिवासी शबरों में देशकाल के व्यवधान के कारण और जीविका की विभिन्नता को लेकर भील, व्याध, शबर, आदि का वर्ग विभाजन हो चुका था। उनमें आपस की शाखांतर भावना न होते हुए भी एक ही शाखा के हैं, यह मानने के लिए कुंठित होने लगे हैं। इसलिए परम्परागत साधारण कौलिक प्रथा जैसे विवाह, उपासना, आहार, आदि में वैसे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन न होने के बाद भी मृत्युकर्म, उत्सव, दहेज, आदि में काफी कुछ परिवर्तन आ गया था। फलतः नव उपलब्ध जातीयताबोध जातिगत न होकर संकीर्ण श्रेणीगत हो गया। अंत में सभी अपने आपको अलग–अलग समुदायों के रूप में परिचित कराने लगे।

हाँ, यह स्वीकार्य है कि शबरों ने जाति वृत्ति को लेकर, जीवन धारण के मानक को लेकर, विशेषकर जातीयता को लेकर द्राविड़ों से काफी कुछ आहरित किया है। फिर भी उन्होंने धार्मिक विश्वास और पूजा उपासना में दूसरे का हस्तक्षेप स्वीकारा नहीं है। एक महादारु की उपासना की भावना को बदलना नहीं चाहा। अपनी आध्यात्मिकता को बरकरार रहने दिया है और उसमें कोई शिथिलता नहीं आने दी। फलस्वरूप अन्य उपासना में डूबकर आत्मसत्ता को विलीन होने दिया, परन्तु उपासना को वैसे ही रहने दिया है। इसलिए परवर्ती काल के जैनपंथी, ब्राह्मण्यपंथी, शैवशाक्त सहजिया चैतन्यपंथी, आदि के हेतुवाद और हेतुवाद–शून्य दर्शन के आघात से आदिम शबरों का मूल दारु अवश्य ही विकृत हुआ है, फिर भी प्रकृतिस्थ होकर विराजमान है, और 'दारु' के रूप में ही पूजित होता आ रहा है।

सप्तम प्रकाश

रामायण तथा उपनिषदकालीन धर्म धारणा और शबर संस्कृति

हमारे लिए तत्कालीन भारतवर्ष के मानचित्र पर विचार करना उचित होगा। आदिमवासी शबर या अष्टिक समुदाय पर द्राविड़ों के द्वारा हमले के समय भारत के कौन से क्षेत्र जनाकीर्ण थे, लकीरें खींचकर स्पष्ट रूप से बता नहीं पाने के बावजूद विंध्य पर्वत के पादप्रदेश, सिन्धु नदी की खाड़ी और गुर्जर क्षेत्र में शबर वर्ग की एक जाति निवास करती थी। बाद में सिन्धु जाति के कौशलपूर्ण आक्रमण के कारण आदिम शबर सम्प्रदाय नर्मदा के तट और महानदी की उपत्यका के पथरीले क्षेत्र की ओर पीछे हटते हुए आ गये। उसके बाद सदियों तक सिन्धु घाटी पर विजित द्राविड़ों की सभ्यता और संस्कृति के चरम सीमा पर पहुँचने तक उत्तर दिशा से श्वेतकाय आर्यों के द्वारा अप्रत्याशित आक्रमण होता है। अंत में पराजित द्राविड़ जाति भी मध्य भारत होते हुए दक्षिण–पश्चिम और दाक्षिणात्य भूखण्ड की ओर भाग आए। उस समय के भारतवर्ष के मानचित्र को तीन सूचना–क्रम में विभाजित किया जा सकता है, (क) आर्य बहुल स्थान, (ख) द्राविड़ बहुल स्थान, (ग) आदिवासी बहुल स्थान।

आर्य–अनार्यों में सदियों की लड़ाई के कारण आर्यों में दैशिक और कालिक व्यवधान के फलस्वरूप राज्य गोष्ठियाँ बनने लगीं। अतः ऋग्वेद के मंत्रों में आर्य स्थान पाँच खण्डों में बँटा हुआ सा लगता है। 1. सत्र सिंधव, 2. पंचनद, 3. ब्रह्मावर्त, 4. मध्यदेश, 5. प्राची। सिन्धु, बितस्ता, अस्किनि, चन्द्रभागा (उड़ीसा की चन्द्रभागा नहीं), परुष्नी या विपाशा, शतद्रु और सरस्वती नदी प्रवाहित विस्तृत भूखण्ड को 'सप्तसिन्धु' देश कहा जाता था। केवल सिन्धु नदी की पाँच शाखाएँ नदियों के रूप में जिस क्षेत्र को प्लावित करती थीं, उसे 'पंचनद' कहा जाता था। सरस्वती और वृषद्वती भूखण्ड को ब्रह्मावर्त कहा जाता था। सप्तसिन्धु और गोमती नदी का तटवर्ती प्रदेश आर्यों का युद्ध के पूर्वकालीन निवास स्थान था। बाद में जब वे युद्ध में विजय प्राप्त करते हुए सिन्धु घाटी की ओर बढ़ने लगे, तब उन्होंने उस प्रदेश को 'मध्यदेश' कहा। यह भी मध्य भारत के पूर्व और दक्षिण–पूर्व भूभाग के कतिपय अंशों के साथ यमुना, चर्मण्वती, सिन्धु, सरयू, आदि नदियों का क्षेत्र ही माना गया। गंगा के निम्न भाग के साथ गंडुकी, शेण, आदि उपत्यका का विस्तृत क्षेत्र 'प्राचीदेश' के नाम से विभाजित हुआ। सुतरां आर्यकालीन भारत को आपाततः तीन भागों में विभाजित कर आर्यस्थान को उपर्युक्त पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है।

उधर युद्धोत्तर काल में शान्तिपूर्ण सहावस्थान के फलस्वरूप इधर–उधर बिखरे द्राविड़ समुदायों में भी विभाजन होने लगा। उसमें से पूर्वोत्तर कोणस्थ विदेह और मगध, मध्य भारत में कोशल, मालव, आदि राज्य, पश्चिम में प्रभास और दक्षिण में चोल, आदि प्रधान हैं। और शबरों के क्षेत्र में उत्कल, कलिंग, तोषल, आदि अलग–अलग राष्ट्र गोष्ठियाँ बनी थीं, ऐसा इतिहासकारों का मत है।

महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात कई सदियों तक संभ्रान्तमन्य आर्य उन द्राविड़ों या शबरों के क्षेत्रों में प्रवेश

निषिद्ध बताकर लेख आदि लिखा करते थे, जिनमें आर्यावर्त के निवासियों को उन राज्यों में जाने के लिए मना किया गया था। इसका अर्थ यह नहीं कि उन प्रदेशों में मात्र द्राविड़ या आर्येतर जातियाँ ही निवास करती थीं, कुछेक आर्य सम्प्रदाय के लोग भी वहाँ निवास करते थे। बस इतना ही कि वहाँ आर्येतर जाति का आधिपत्य अधिक था, परन्तु धीरे–धीरे दीर्घकाल के बाद युद्धकालीन घृण्य मनोभाव से मुक्त होकर सबमें आदान–प्रदान के द्वारा नई–नई विधाएँ सृजित होती चली गयीं।

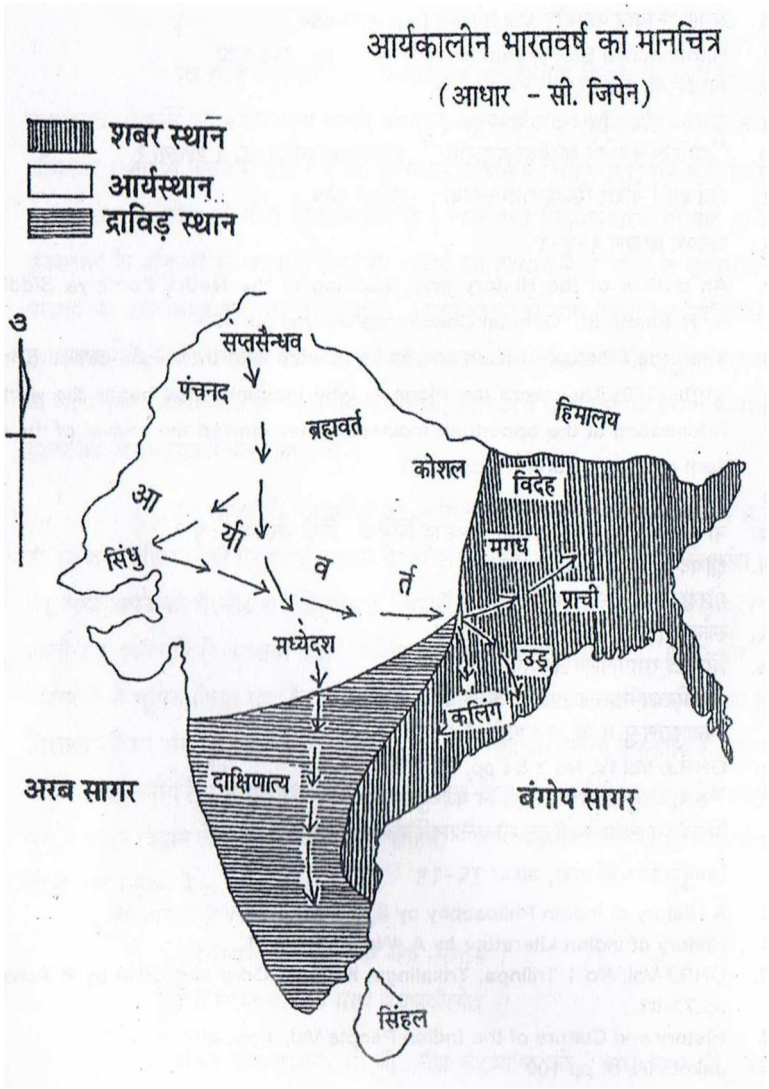

उधर आर्यावर्त में भी आभ्यंतरणीय भेद का बीज अंकुरित होने लगा। फलस्वरूप आर्यों में भी दो विरोधी मतों के दल बने। उनमें से प्रमुख समुदाय पंजाब के क्षेत्रों में निवास करने लगे और कुछ गंगा–युमना के तटवर्ती समतल भूमि की ओर आए। वे हैं यदु, पुरु, भरत, तृत्सु, तुर्वसु, जन्हु, भृगु, आदि। इन क्षेत्रों में पहले से निवास करते आए दस्यु, दैत्य, आदि आदिम अधिवासियों के साथ जब आर्यों की लड़ाई होती थी, तब आर्यधर्मी पुरोहितों में वशिष्ठ, विश्वामित्र, यमदग्नि,

अंगिरा, गौतम, आदि प्रमुख थे। उधर उशना (शुक्राचार्य) नाम के एक कवि आदिम अधिवासी या अनार्यों के गुरु थे, अतः उन्हें असुरगुरु या दैत्यगुरु कहा जाता था। चूंकि शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे, अतः उनके आचार–धर्म और संस्कार–धर्म को उस समय के आर्य पुरोहित पसन्द नहीं करते थे। यहाँ तक कि ऋग्वेद में उन्होंने अनार्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बनाए हुए थे, ऐसा उल्लेख है।

इसके बाद कालचक्र जिस तरह घूमने लगा, दोनों जातियों में उसी परिमाण से घनिष्ठता बढ़ने लगी। आपस में ये दोनों तरफ के सद्‌गुणों का आहरण कर अपने को शक्तिमान बनाने लगे। जातिगत विद्वेष धीरे–धीरे हटने लगा। जाति धर्म निविशेष से सत्य, दया, क्षमादि का प्रयोग होने लगा। आर्यों के अन्याय व अत्याचार से पीड़ित सजातीय आर्य भी विजातीय द्राविड़ों के साथ एकमत होकर आर्यों के विरोध में खड़े होने के लिए कटिबद्ध हुए। इसी प्रकार द्राविड़ भी सजातीय द्रविड़ों के अनाचार के विरुद्ध आर्यों के कंधे से कंधा मिलाकर खड़े हुए। संक्षेप में कहें, तो आर्य व अनार्यों में विद्वेष पूरी तरह से न भी रहा हो तो भी अनेकांशों में तिरोहित हो गया। उस समय की सामाजिक रीति की व्याख्या करने के लिए ही उत्तर कोशल के अन्तर्गत अयोध्या नगरी के संभ्रान्त क्षत्रियवंशी राजपरिवार को केन्द्र में रखकर रामायण जैसे एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना हुई, ऐसा प्रतीत होता है।

उत्तर कोशल के अन्तर्गत अयोध्या के राजा दशरथ पुत्रहीन थे। उनकी तीन रानियाँ थीं – कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। एक ही बेटी शान्ता जो परममित्र राजा लोमपाद की दत्ता थी। उधर राजा दशरथ अति चिन्तित थे। तब राजा लोमपाद के राज्य में अकाल पड़ा। राजा ने वर्षेष्ठि यज्ञ करने के लिए आजन्मयोगी ऋष्यशृंग को अरण्य से आमन्त्रित किया। यज्ञानुष्ठान से वर्षा हुई और ऋष्यशृंग के साथ शांता का विवाह भी सम्पन्न हुआ। यह देखकर दशरथ ने कुल पुरोहित वशिष्ठ के सुझाव से ऋष्यशृंग को अयोध्या में आमन्त्रित कर पुत्रेष्ठि यज्ञ कराया। परिणामतः कौशल्या के गर्भ से राम, कैकेयी के गर्भ से भरत और सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न जन्म ग्रहण करते हैं। कुछ समय के उपरान्त राजर्षि विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा हेतु आमन्त्रित कर साथ ले जाते हैं। ताड़कादि असुरों के संहार के उपरान्त राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के कहने पर विदेह राज्य को जाते हैं। वहाँ राम शिवधनुष तोड़कर राजर्षि जनक की कन्या सीता के साथ विवाह कर गौरव सहित अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं। लौटते समय उनकी भेंट क्षत्रिय संहारक परशुराम से हो जाती है। उन्हें पराजित कर वे अयोध्या पहुँचते हैं।

कुछ दिनों के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र राम के राज्याभिषेक के लिए उनके पिता दशरथ ने आयोजन किया। तब मँझली रानी कैकेयी ने भरत को राजा बनाने एवं राम को वनवास भेजने की जिद्द पकड़ ली। फलतः सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर राम वनवासी हुए। रास्ते में सरयू नदी पार कर वे पहले गुह नामक शबर से मिले। उसके बाद राम पंचवटी में रहने लगे। उसी समय अयोध्या में दशरथ का देहान्त हो गया।

इस घटना के समय भरत और लक्ष्मण कैकयराज मामा युधाजित के घर पर थे। घर आकर सब सुनने के बाद भरत माँ पर क्रोधित हुए और बड़े भाई को लौटा लाने के लिए उन्होंने अरण्य की ओर प्रस्थान किया। अग्रज के न लौटने

के कारण भरत ने वापस आकर राजप्रतिनिधि के रूप में राज्य पर शासन किया।

तब लंका के असुरराज रावण ने आकर छल से सीता का अपहरण कर उन्हें समुद्र पार ले जाकर रखा। राम और लक्ष्मण काफी ढूँढ़ने के पश्चात् भी सीता को नहीं पा सके और तब उनकी भेंट किष्किन्धा के राजभ्राता सुग्रीव से हुई। उनके साथ मित्रता करके राम किष्किन्धा के राजा बलि का वध करते हैं। सुग्रीव राजा बनते हैं और राम की सहायता करते हैं। रावण के साथ राम का युद्ध होता है और रावण का वंशनाश होता है और वह भी मारा जाता है। राम के शरणागत रावण के भाई विभीषण लंका के राजा बनते हैं और राम अयोध्या को लौट आते हैं। यहाँ पर ग्रन्थ की यथार्थ परिसमाप्ति हो जाती है।

इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक तथ्यों पर विचार करना इस अध्याय का आशय नहीं है। रामायण की रचना के समय भारतीय संस्कृति और सभ्यता क्या थी, इसमें से उसके बारे में जो जानकारी मिलती है, वही उपादेय है। रामायण महाकाव्य साहित्यिक रचना कौशल के विचार से कुछ भी हो, उसमें उस समय के आचार, व्यवहार और सामाजिक रीति–रिवाज की सटीक जानकारी है। इसके अतिरिक्त 'महाकाव्य' से अधिक यह 'इतिहास' के रूप में भी प्रचलित है। अतः इसकी कथावस्तु का आधार लेकर अनेक सांस्कृतिक तथ्य संग्रहीत किए जा सकते हैं।

पहले से कहा गया है कि उत्तर कोशल आर्यस्थान अन्तर्वर्ती एक छोटा सा राज्य है, जहाँ आर्यपंथी ब्राह्मण धर्म की ही प्रतिष्ठा थी। उसकी राजधानी अयोध्या या साकेत नगरी में थी। राज्य के श्रेष्ठ राजा दशरथ ने दक्षिण कोशल की राजकन्या कौशल्या का पाणिग्रहण किया था। तब दक्षिण कोशल अन्य धर्मावलम्बी राज्य था। वहाँ ब्राह्मणों के आधिपत्य का कोई विशेष सम्मान नहीं था। इसी से उस राज्य में प्रवेश निषिद्ध हुआ था, यही बाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है। परन्तु रामायण में देखते हैं कि एक सूर्यवंशी राजा ने आर्य राजा होते हुए भी अनार्य देश की राजकन्या से पाणिग्रहण किया, वह भी पटरानी। इससे ज्ञात होता है कि रामायण काल तक आर्य, आर्येतर जातियों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। पहले का वह संभ्रांताभिमान अब और नहीं था। इसी से यह बात समाप्त नहीं हो जाती। यहाँ कैकेयी के बारे में भी विचार करना आवश्यक है। वे थीं कैकय राजकुमार युधाजित की बहन। कैकय हिमालय के पाददेशस्थ एक छोटा सा राज्य था। वह आर्यावर्त के अन्तर्गत था। इसलिए आर्यावर्तीय कन्या कैकेयी की प्रतिपत्ति अवश्य ही सर्वाधिक होगी, परन्तु वे राजा की दूसरी पत्नी थीं। उनके बेटे का राजा होना बिल्कुल भी संभव नहीं था और न्याय के दृष्टिकोण से राम राजसिंहासन के भावी उत्तराधिकारी थे। न्यायपरायण पति दशरथ को अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राजा बनाने के सारे आयोजन करते देखकर चतुर कैकेयी उनके मन में परम्परागत गोष्ठी मर्यादा के विष कीटों का प्रवेश करती हैं। आर्य जननी के पुत्र भरत को छोड़कर अनार्यमातृक राम को राज्यगद्दी पर बैठाने को मना करती हैं। इससे वृद्ध राजा का मन विचलित हो जाता है। वे कर्तव्य निश्चित नहीं कर पाये तो उन्होंने कुलपुरोहित वशिष्ठ से सुझाव माँगा। जो होना था वही हुआ। ब्राह्मणधर्मी कुलपुरोहित ने जो परामर्श दिए, उससे राम सिंहासन के अधिकार से च्युत हो गये। परन्तु आदि कवि ने अपनी चमत्कारी कल्पना से भिन्न रूप में इसका समाधान किया, फिर भी

जड़ तो रह ही गई। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यद्यपि दोनों समुदायों में पारस्परिक घनिष्ठता स्थापित होती आ रही थी, तो भी पहले का घृण्य वातावरण बिल्कुल स्वच्छ नहीं हुआ था।

राम के विवाह में भी वही बात। अनार्य बहुल विदेह राज्य की राजकन्या सीता, शुद्ध आर्यावर्त के राजकुमार राम और यह घटना वशिष्ठ और विश्वामित्र के समय घटी। एक सर्वमेधवादी और दूसरा सर्वजीवदयापर, परन्तु विचारणीय तो यह है कि दोनों एक–दूसरे के राज्यों के अन्दर निःसंकोच आ–जा सकते थे। अहिंसाधर्मी यज्ञावरोधी विश्वामित्र के साथ सर्वयाज्ञी वशिष्ठ शिष्य राम का असुर वध के लिए अभियान, यह भी विचारणीय है। शायद उस समय यज्ञादि क्रियाकांड आर्येतर जातियों में भी कृत्यकर्म बन चुका था। इसी कारण से यागयज्ञ के विरोधी शिवोपासक अनार्य असुरों के द्वारा यमधर्मी अनार्य भी अत्याचारित हुआ करते थे। फलस्वरूप आर्य समधर्मी अनार्यों के लिए विधर्मी के विरुद्ध अस्त्र धारण करते थे। विद्याधरवंशी जैन (ऋषभ–लांक्षन या वृषवाहन उपासक) रावण के द्वारा मरुतराजा के यज्ञ विध्वंस की जड़ में यही तत्व निहित है।

यहाँ भैरवोपासक तान्त्रिक परशुराम की अवतारणा और भी विचित्र है। परशुराम की पूर्व परम्परा के बारे में इतिहासकारों का कहना है – ''जन्हुकुलजात गाधि की बेटी सरस्वती के साथ रुचिक ऋषि के विवाह से यमदग्नि का जन्म होता है।'' विश्वामित्र गाधि के पुत्र हैं और यमदग्नि के पुत्र हैं परशुराम। वह एक दुर्धर्ष भृगुवंशी वीर थे। महाभारत युद्ध के चार या पाँच सौ वर्ष पहले परशुराम का जन्म हुआ था। यमदग्नि के समय से ही ऋग्वेद का काल समाप्त होकर शतपथ ब्राह्मण का समय आ गया था। तब आर्य जाति के रूप में परिचित न होकर 'प्रजा' के रूप में परिचित होने लगे थे। जो भी हो, परशुराम जैसे राजर्षि विश्वामित्र के भय–प्रदाता हैं, उसी प्रकार महर्षि वशिष्ठ के भी शत्रु हैं। फिर भी वे एक निष्ठावान सन्यासी हैं। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का दलन करके उनके रक्त से पितृ तर्पण किया था। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि तब तक युद्धकालीन तान्त्रिक शैवधर्म कई दृष्टिकोण से दूसरे धर्मों की भाँति एक विधिबद्ध मतवाद के रूप में प्रस्तुत होने लगा था। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सैंधव युग के पूर्ण अहिंसावाद या ब्राह्मण युग के नवोत्पन्न विष्णुवाद का प्रसार नहीं हो रहा था। पर एक ओर अहिंसावाद धीरे–धीरे क्षय प्राप्त हो रहा था, दूसरी ओर वैदिक शाखा से उत्पन्न विष्णु धर्म की भाँति शैव और भैरव धर्म भी धीरे–धीरे विस्तृत होते जा रहे थे। इसी मतवाद से अनेक असुर भी दीक्षित हुए थे। वे किसी भी विधि निषेध को मानते नहीं थे। परन्तु और भी कई हैं, जो शैव धर्म में रहकर भी पूर्णरूप से निरामिष थे। अब भी द्राविड़, तमिल भाषा में शैव का अर्थ है शुद्ध निरामिषाशी। उनके मतानुसार शिव और ऋषभ एक और अभिन्न हैं।

अब राम के वनवास पर विचार करें। यहाँ 'गुह' शबर का नाम उल्लेखनीय है। राम, सीता और लक्ष्मण के सरयू नदी पार कर अरण्य में पहुँचते ही शृंगवेरपुर में गुह शबर के साथ उनकी भेंट होती है। शबर ने पवित्रमन्य एक प्रसिद्ध राजकुमार को स्वस्थान पर देखकर 'मत्स्य, माँस, मधु' से सत्कार कर आतिथ्य प्रदर्शन में कोई कमी नहीं की। उसने कहा

– **''यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ...**

वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रसाधिनः।

भक्षं भोज्य च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम्।

अर्थात्, हे राम आप आपकी अयोध्या जैसा इस स्थान को भी वैसा ही माने। अब बताएँ मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ। हम भृत्य और आप प्रभु हैं। आप हमारे राजा बनकर हम पर शासन करें। आप के लिए भक्ष्य, भोज्य, पेय की मैंने व्यवस्था कर दी है। इस कथन में शबर की असामान्य उदारता ही प्रकट होती है। वह राजकुमार को उनके योग्य मानकर अपना सिंहासन भी देने के लिए कतराता नहीं है। और उसे ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की है। वह स्वयं राजा होते हुए भी अतिथि की प्रजा बनने को तैयार है। यही शबर का स्वधर्म है – वृक्षधर्म। इसलिए राम जैसे योगजन्मा महापुरुष ने भी उसके साथ स्वेच्छा से मित्रता में बँध जाना चाहा। शायद तब तक शिक्षित द्राविड़ों के संसर्ग में आकर शबर ने अतिथि सत्कार, पूज्य पूजा, आदि मानवोचित सद्गुणों की सुरक्षा पाकर अपने को सभ्य बना लिया था।

उसके बाद 'चिरकृष्णजीनाम्बरा' शबरी की अवतारणा और भी चमत्कार करने वाली है। पंपा सरोवर के तट पर उसका निवास है। जाति से शबर, फिर भी वह 'श्रमणी', 'तापसी' के रूप में वर्णित है। उसे 'सिद्ध' भी कहा गया है –

तौ दृष्टवातु तदा सिद्धा सिद्धा समं चाथ कृतांजलिः।

पादो जग्राह रामस्य .....

ता मुवाच तदा रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम।

शायद तब तक आगंतुक द्राविड़ों के जैन धर्म का प्रसार पूर्ण रूप से शबरों में हो चुका था। आबालवृद्धवनिता पर्याप्त संख्या में उसमें दीक्षित हो उसके कर्म मार्ग को अपना चुके थे। यहाँ श्रमणी का अर्थ बौद्ध सन्यासिनी नहीं, जैन तापसी है। बौद्ध सन्यासी को कहीं भी 'तपस्वी या जटिल' नहीं कहा गया है। वे या तो मुण्डी हैं या मुण्डिनी। पर वहाँ शबरी जटिल, तापसी और सिद्धा है। अतः मात्र 'श्रमण' शब्द के आधार पर जो रामायण को बुद्ध के परवर्ती काल की रचना मानते हैं, उनके तर्क में कोई सामर्थ्य है ऐसा नहीं लगता। और भी, पाणिनी के संवाद सप्ताध्यायी सूत्र में 'श्रमण' शब्द है। पण्डितों का मत है कि पाणिनी बुद्धदेव के पहले थे। इसलिए रामायण में प्रयुक्त 'श्रमण' शब्द बौद्ध भिक्षुवाचक हो नहीं सकता। यह जैन तपस्वीवाची है, क्योंकि 'श्रमण' शब्द का प्रयोग अनेकत बौद्ध भिक्षु के अर्थ में प्रयुक्त होने पर यह मूलतः जैन सन्यासी है। इन सबकी चर्चा करें तो शबरों में जैनदीक्षा किस प्रकार से प्रवेश पा चुकी थी, स्पष्ट हो जाता है।

लगता है कि एक और बात को सूचित कर देना उचित होगा। रामायण के समय आर्यस्थान का अस्थायी जाति विभाग स्थायी जातिभेद का रूप लेने लगा था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों के स्पष्ट उल्लेख रामायण में न होने पर भी वैश्यों के अतिरिक्त और तीन वर्गों का विभाजन हो चुका था। एक शास्त्रों के निर्माता, एक शासक, और एक शासित, ऐसे तीन वर्ग सामाजिक परिचालन के लिए परम आवश्यक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। यह सच है कि उल्लिखित चार वर्गों का विभाजन ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल की रचना तक हो चुका था, पर वह विभाजन वृत्ति के भेद से हुआ था

और रामायण काल तक वह जन्म या जातिगत हो चुका था। फलतः ब्राह्मण और क्षत्रिय क्रमशः वर्णपति और राज्यपति के रूप में निम्नवर्ग के लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगे थे। क्षमता–शून्य दूसरे दो वर्गों ने सक्षम समर्थ वर्ग के विरोध में कुछ कर पाने का साहस तक नहीं किया। इसी प्रकार से अपने ही समुदाय में भेद के रहते गोष्ठयन्तर द्राविड़ या शबरों के प्रति किस प्रकार की भावना मन में पाले हुए थे, यह सहज ही अनुमेय है।

पर यह भावना राम में परिलक्षित नहीं होती है। यही उनकी महानता है। विश्व के सभी जीव एक हैं। उच्च, निम्न, राजा, प्रजा, ऐसा कुछ भी नहीं है। सब अपने–अपने कर्म का सम्पादन करें, यही उचित है। राजा सिंहासन पर बैठ कर जिस प्रकार से प्रजा की मंगल कामना करता है, उसी प्रकार प्रजा भी राजकोष की संवृद्धि कर राजा की कुशल कामना करती है। वहाँ छोटे–बड़े का भेद कहाँ रहा? यह ही रामराज्य और श्रीराम की अनुश्रुत शैली है। यही कारण है कि उन्होंने अशिक्षित यहाँ तक कि अर्द्धमानवों से भी सहायता पाई है। शिवोपासक लंका के राजा रावण ने सीता का अपहरण किया, तब मणिपुर प्रान्त के नागाओं की भाँति एक वण्यमानव वर्ग की सहायता से राम ने समुद्र पर सेतु का निर्माण किया और लंका जाकर रावण का सवंश वध किया। शायद आदिम शबरों में से ही कुछ परिवार सैंधव सभ्यता के ठीक पहले आकर किष्किन्धा अर्थात् दाक्षिणात्य के एक निविड़ आरण्यक प्रदेश में बसे थे। वे पूर्व उपकूल के निवासी शबरों की तरह अन्य सभ्यता के द्वारा प्रभावित न होकर एक बाध्यहीन जीवन बिताते थे। तब दाक्षिणात्य में शूद्र अहिंसाधर्मी जैन, पंचम कार्यसेवी भैरवोपासक शैव जैसे दो मतवाद सिर उठाए हुए होने के बाद भी किसी से किष्किन्धा प्रभावित नहीं हुआ था। आर्यधर्मी ईश्वर विश्वासी राम के सम्पर्क में आकर उन्होंने पहले सेवा, उपासना सीखना शुरू किया। पर यहाँ भी राम द्वारा शिवोपासना उल्लेखनीय एवं विचारणीय है। वे किस प्रकार शिव की उपासना करते थे, क्यों करते थे, इसका उत्तर आसान नहीं है। शायद किसी भी धर्म में रहकर किसी भी देवता की पूजा करके समान रूप से फल की प्राप्ति हो सकती है, इसलिए मानना चाहिए कि पूजा, उपासना को लेकर कोई भेदभाव का होना उचित नहीं। इसी आदर्श को लेकर उन्होंने ऐसा किया था। क्योंकि हिन्दू समाज सदा मात्र राजशक्ति के प्रभाव से ही नियंत्रित नहीं था, वरन् अनार्य देश में नवप्रविष्ट ब्राह्मण्य प्रभाव को अक्षुण्ण रखने के लिए उनके धार्मिक मतवाद के साथ इसी प्रकार का किसी आपसी निर्णय का होना भी असम्भव नहीं। फलतः वे जिस भाँति स्वधर्मी आर्य गोष्ठी के प्रिय बने, वैसे ही विधर्मी अनार्य गोष्ठी के भी श्रद्धा और भक्ति–भाजन हुए। इसीलिए वे परवर्तीकाल में अंशावतार के रूप में पूजित हुए।

इसी से प्रतीत होता है कि रामायण काल में आर्य वर्ग से संभ्रांताभिमान की मात्रा धीरे–धीरे घटने लगी थी। शुभगमन्य आर्यों ने और राज्य की लालसा न रखकर सामान्य नागरिकों की तरह आर्येतर समुदाय द्वारा अधिकृत राज्य में प्रवेश करना आरम्भ किया। दोनों समुदाय एक–दूसरे के अधिकृत राज्य में अबाध आने–जाने लगे। सभी गोष्ठियाँ जाति, धर्म निर्विशेष से गुण को गुण और दोष को दोष के रूप में निर्विवाद स्वीकारने लगे। दोनों समुदायों के समिश्रण के लिए राम की भाँति उदारपंथी जिस तरह इतर देवताओं की उपासना करते थे, वैसे ही विभीषण की तरह अन्याय के प्रतिरोध के लिए अपने सहोदर भ्राता के विरुद्ध खड़े होने से बाज नहीं आए। उधर परशुराम की तरह भैरवपंथी ब्राह्मण द्वारा

इक्कीस बार पृथ्वी को निक्षत्रिय करने के समान ही असुरविनाशी दक्षाध्वरध्वंसी शिवभक्त विद्याधरवंशी जैन रावण द्वारा आकर मरुतादि के यज्ञ नष्ट करने की घटना भी पद्म पुराण में वर्णित है।

पर इस युग की सबसे अभिनव घटना है, राजाओं के प्रकार। इस युग में हम राजा को देखते हैं और प्रजा को भी। उन्हें केन्द्रित कर ग्रन्थ भी लिखे जा रहे हैं। इस युग तक जैसे अनार्य धर्म में भी शुद्ध जैन, श्मशानवासी शिवोपासक, महाकाल भैरवपत्नी शक्ति के उपासक, महायोगीश्वर वृषभवाहन शंकर पूजक, आदि अलग–अलग उपासनावाद की सृष्टि हो गयी है, वैदिक आर्य धर्म में भी उसी प्रकार ''तद्विष्णोः परमं पदं'' आदि संहिताओं के बाद ''वैष्णवै इन्द्रियाणि पराण्यहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनपश्च परा बुद्धिः बुद्धोरात्मा महान परः'' आदि उपनिषदों के वाक्यों के पीछे परमात्मा पातंजलादि ऐश्वरयोग में सृष्टि और सृष्टिवादी द्वैत विश्वास और अन्त में तद्विष्णोः आदि मन्त्र के 'विष्णु' की जगह 'शिव' पर्याय के प्रयोग के द्वारा शैव सम्प्रदाय अंकुरित होकर क्रमशः पल्लवित होने लगा। यह सब आर्यों–अनार्यों के बहुकाल के सहावस्थान से ही हो पाया। परन्तु आर्यस्थान की तरह द्राविड़ों में देशिक विभाग की कोई सूचना रामायण से नहीं मिलती है। अवश्य निविड़ अरण्य भूमि में किष्किन्धा नाम से एक राज्य की बात कही गयी है। लंकापुरी को यदि हम भारतवर्ष मध्य स्थित एक आभ्यंतरीण राज्य कहें तो वह सुदूर दक्षिण में प्रधान कोटि का एक वृहत्तम राज्य होगा। इसके अतिरिक्त समतल भूभाग की स्थिति क्या थी, जो भी थी वह वासोपयोगी थी या नहीं, कहने के लिए कोई आधार भी नही है। पर वे सभी क्षेत्र मांसाशी असुर अर्थात् नरबलिप्रिय भैरवोपासकों की चारणभूमि थी, इसका अनुमान रामायण से लगाया जा सकता है।

अब यह देखना है कि इस महाव्युत्पात की बाढ़ ने किस प्रकार पूर्वांचलीय आदिवासी शबर और उसके कुल देवता को प्लावित किया है। रामायण से ज्ञात होता है कि वनवासी राम ने अपनी पत्नी और भाई को लेकर सरयू नदी पार कर अरण्य प्रदेश में प्रवेश किया। वहाँ शबर–राज गुह के आतिथ्य को ग्रहण करके चित्रकूट की ओर यात्रा की। उसके बाद अपहृता सीता को खोजते समय पंपा सरोवर होते हुए किष्किन्धा में प्रवेश किया। इस यात्रा पथ को मानचित्र में देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि अयोध्या अरण्य पथ से चित्रकूट तक चलना होगा तो दक्षिण कोसल या अब के छत्तीसगढ़ जिले को पार कर महेन्द्रकांतार पथ होते हुए ही जाना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। और जो भी पथ था, वह इससे भी दुर्गम था। विशेषतः चित्रकूट पूर्वघाट माला में एक क्षुद्र समतल अरण्य प्रदेश है। वहाँ पहुँचने के पहले पम्पै नदी के द्वारा पुष्ट–कलेवर पंपा सरोवर की ओर भी वे गये थे। वहाँ ''जटिला–तापसी–सिद्धा'' शबरी से वे मिलते हैं। अयोध्या की सीमा पार करते ही गुह शबर से और फिर सुदूर दाक्षिणात्य के पंपा सरोवर तट पर सिद्धा शबरी से भेंट, आदि से अनुमान लगाया जा सकता है कि कोसल की सीमा से सट कर शबर अध्यूषित एक आरण्यक प्रदेश था, जो सुदूर पर्वत श्रृंखला के दक्षिण छोर तक विस्तृत था। वहाँ निवास करने वाले शबरों ने अपने आचार, व्यवहार, कृष्टि, संस्कृति, आदि से एक सुदृढ़ समाज की प्रतिष्ठा की थी। और भी, गुह से मिलते समय, शबर राज, शबर श्रेष्ठ कहते समय, शबरी के लिए जटिला, तापसी, सिद्धा, आदि विशेषणों के प्रयोग से अनुमान होता है कि

अविमिश्र शाबर धर्म के साथ जैन सम्बन्धी 'निस्परिग्रह' धर्म भी शबर स्थानों में ख्याति प्राप्त हुआ था। शबरों में से भी अनेक निस्परिग्रह दीक्षा से दीक्षित हुए थे। इसी कारण से शबरी 'तापसी' और 'सिद्धा' के रूप में वर्णित हुई है।

पहले से कहा गया है कि देश और काल के व्यवधान के कारण और वृत्ति या जीविका को लेकर शबरों में भील, किरात, निषाद, आदि सम्प्रदायों का गठन हुआ। सभी ने एक दूसरे से अलग होकर धीरे–धीरे अपने स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा के लिए मन बनाया। भाषा, संस्कृति, रीति–नीति, आचार, विचार, सबमें विशेषता दर्शाने के लिए अज्ञात रूप से जुटे हुए थे। किरात निषाद से, निषाद शबरों से, शबर भीलों से अलग हैं, ऐसे विचार होने लगे। उस विचार की परिपूर्णता की साधना में भाषा ही मुख्यतः सहायक बनी।

भाषा परिवर्तनशील है। वह उच्चारण के वैशिष्ट्य से रूपान्तरित होती है, यह निश्चित है। उनमें सदियों के विच्छेद के कारण सैंधव–पूर्वकालीन शाबरी भाषा अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग लोकमुख से रूपान्तरित हुई थी। उस पर आगन्तुक सैंधव द्राविड़ों के सात मिलितावस्तान के कारण दोनों भाषाओं में शब्द विनिमय होना स्वाभाविक है। दोनों भाषाओं के मिलित शब्दावलीपूर्ण एक किंभूतकिमाकार भाषा अलग–अलग स्थानों में भिन्न–भिन्न रूप अपनाकर विकसित हुई। फिर भी उसे शाबरी भाषा के नाम से नामित करें तो यह असमीचीन नहीं होगा, क्योंकि तब तक उत्तर पथ की आर्य जाति के विराट शब्द संभार ने शबर स्थान में प्रवेश नहीं किया था और इसी कारण से स्थानीय भाषा में प्रयुक्त सीमित शब्दावली एक जातीय भाषा के रूप में अभिहित होने के योग्य नहीं बनी थी। अतएव पहले आए द्राविड़ समुदाय की भाषा का प्रभाव परवर्ती आंचलिक भाषाओं से ओतप्रोत हो जड़ित हुई सी लगती है।

रामायण काल तक आदिवासी शबरों पर सैंधव अनार्यों के प्रभाव से जैसे एक अभिनवता आने लगी थी, उसी प्रकार शबर संस्कृति के देवता में भी दूसरों के प्रभाव के कारण परिवर्तन शुरू होने लगा था। इसके द्वारा शबर देवता की मौलिकता पर अवश्य ही कोई आँच नहीं आई, परन्तु मूलवस्तु पर जिस परिमाण में बाह्याड़म्बर या बर्हिआवरण चढ़ा दिया गया, उससे उसे पहचान पाना कठिन हो गया। वर्ण–सम्प्रदाय शून्य शबर सभ्यता में परवर्ती जातिभेद प्रथा ने हर प्रकार से प्रवेश कर उसके मौलिक गुणों के प्रति संशय पैदा कराया। तांत्रिक क्रियाकाण्ड के सभी अद्‌भुत उपादान सरल आभिचारिक उपायों के माध्यम से इस प्रकार नीर–क्षीर की तरह घुलमिल गये कि काल की गति के साथ–साथ प्रमुख उत्पादन बीज को छोड़कर 'शाबरी विद्या' के नाम से अभिहित होने लगे। वृक्षधर्मी शबर के नीलाद्रि कंदर के दारुदेवता में जैन द्राविड़ों के 'पुरुषोत्तम' भाव ने प्रवेश कर मूल दारु को 'पुरुषोत्तम' नाम से अभिहित कर दिया। उसी युग से शायद दारुदेवता पुरुषोत्तम नाम से परिचित होने लगे और सरल तथा धार्मिक शबर सम्प्रदाय पर कालिख पोतने लगे। सम्भवतः इसी को आधार बनाकर भगवत गीता के सुदक्ष उपदेष्टा श्रीकृष्ण ने ''अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'' कहा है। इसी के आधार पर पंडित नीलकण्ठ दास ने अपने ''ओड़िआ भाषार क्रम परिणाम'' में पुरुषोत्तम तत्व पर चर्चा करते हुए कहा है – यहाँ गौर करना है कि गीता में पुरुषोत्तम तत्व की जो व्याख्या दी गई है, उसी से लगता है कि वे पहले से प्रचलित कोई उपास्य देव हैं। पुरुषोत्तम को दार्शनिक रूप से समझाने के लिए कही गई है। लगता है कि गीता में इस

परम समाधान के तत्व प्रकाशित एवम् प्रचारित होने तक एक दर्शन के संकेत के रूप में पुरुषोत्तम की उपासना प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उस पुरुषोत्तम के तत्व के संकेत नीलांचल में प्रतिष्ठित दारुदेवता के अतिरिक्त और कोई नहीं, यह निश्चित है। इसलिए कह सकते हैं कि महाभारत के युद्ध के समय दारुदेवता पुरुषोत्तम नाम से लोकों में ख्याति प्राप्त हो चुके थे, इसलिए कि लोगों में उपास्य देव के रूप में प्राचीन कलिंग या वर्तमान ओड़िशा के पुरुषोत्तम पुरी या पुरी के जगन्नाथ हैं। और कहीं भी भक्त के उपास्य देव के रूप में पुरुषोत्तम नहीं हैं।

और हम वाल्मीकि रामायण में भी पुरुषोत्तम, पुरुषर्षभ, निरार्षभ, आदि शब्दों के प्रयोग पाते हैं। इन शब्दों का प्रयोग रघुवंशी राम के विशेषण के रूप में हुआ है। पुरुषोत्तम, पुरुष–ऋषभ, आदि शब्द जैन परम्परा से गृहीत हैं, कहने के भी कारण हैं। जैनधर्मी उपास्य देवता का नामांतर है – पुरुषोत्तम। नारायण विष्णु के पर्यायवाची शब्द की तरह जैन उपास्य के अन्य नाम पुरुषोत्तम हैं। ''देवाधिदेव–बोधिद–पुरुषोत्तम–वितरागाप्ताः'' और भी जैन शास्त्र में अध्यात्म शरीरों में पुरुषोत्तम सर्वश्रेष्ठ हैं।

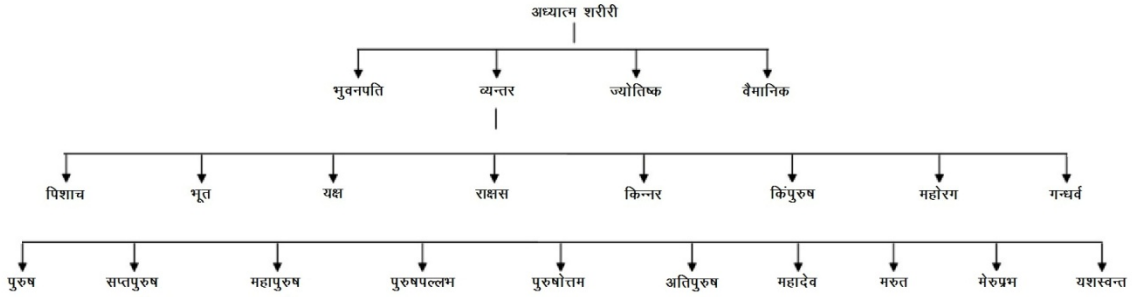

इनमें से 'पुरुषोत्तम' के नाम ही देवाधिदेव हैं, और आप्त हैं। सभी पर्यायवाची शब्द हैं; इसी प्रकार ऋषभ भी। यह कहने का उद्देश्य यह है कि रामायण के समय सहावस्थान की परिणति के रूप में जैन परम्परा के प्रभाव से आर्य ऋषि प्रणीत शास्त्र, काव्यादि जिस प्रकार प्रभावित हुए, उसी प्रकार शबर जाति के परम उपास्य दारुदेवता पर भी कुछ प्रभाव पड़ा और कई विचित्रताएं सामने आईं। फलस्वरूप दारुदेवता के 'पुरुषोत्तम' नाम से पूजित होने का उपक्रम हुआ। इसमें अवश्य ही मूल दारु का कोई परिवर्तन नहीं हुआ, फिर भी शुद्ध शाबरी उपासना में जैन भाव ने प्रवेश कर ही लिया। लगता है कि आठवीं सदी के ओड़िआ बज्रयानी राजा इन्द्रभूति रचित 'ज्ञानसिद्धि' ग्रन्थ के मंगलाचरण श्लोक ''प्रणिपत्य जगन्नाथ सर्वजिनवरार्चितं'' का मूल यही है।

वृक्षधर्मी शबर देवता पर जैन धर्म के कल्पवृक्षत्व आरोपित होकर जिस प्रकार बहुकाल से उपासित होता आया था, वह पहले ही कहा जा चुका है। निरपेक्ष शबर देवता में नानाविध धर्म कल्पना के कारण वह देवाधिष्ठित स्थल अनेक परस्पर विरोधी धर्मावलम्बियों का भी पीठस्थल बन गया। अलग–अलग मतवादियों ने विभिन्न उपायों से उसे अपना बनाने

का यत्परोनास्ति प्रयास किया, परन्तु आदिम जैनपंथियों ने जिस प्रकार अपनी प्रधानता को प्रतिष्ठित करवा पाने में सफलता पाई और अपनी धार्मिक भावनाओं को दारु में जिस प्रकार एकात्म हो सम्मिलित करवा पाए तथा वृक्षधर्मियों को नियन्त्रित कर पाए, उसकी कोई मिशाल नहीं है। इस जैन प्रतिष्ठा पर से स्वयं बुद्धदेव भी अपनी दृष्टि नहीं हटा पाये। अतः निर्वाणपंथी बुद्धदेव के निर्वाण के पश्चात् क्षेमात्थेर नामक एक बौद्ध भिक्षु ने बुद्धदेव के अंग विशेष के रूप में उनके एक दाँत को लाकर तत्कालीन कलिंगराज ब्रह्मदत्त को उपहार के रूप में प्रदान किया था और राजा ने भी गौरव देकर दाँत की उपासना के लिए स्तूप का निर्माण करवाया था। यद्यपि दंत प्रेक्षण का मूल उद्देश्य अर्थात् पुरुषोत्तम पुरी स्थित कल्पवृक्ष धर्म के बदले बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से नहीं हो पाई, फिर भी आंशिक तो हो ही गई। उसके पहले जैन धर्म के अन्यतम तीर्थंकर पार्श्वनाथ कलिंग या शबर खण्ड में आकर जैन धर्म का प्रचार करके स्थानीय अधिवासियों के विश्वास पात्र बने थे, ऐसा इतिहासकारों का कहना है। और भी इतिहास से ज्ञात होता है कि वादशून्य शबर जाति में कई तरह के मतवाद प्रवेश पाकर पूर्णरूप से एकात्म न होने पर भी आंशिक रूप से एक 'तिलतंडुल' धर्मवाद का विस्तार हुआ था। अतः उस समय जैन और शबर के अतिरिक्त आजिवक, निर्गथ, पंशम, अक्रियावादी, अहेतुवादी, आदि भिन्न–भिन्न मतवादों के उद्‌भव के उदाहरण पाये जाते हैं। जैन तीर्थंकर महावीर वर्धमान के ओशली, मोषली, तोषली आगमन के समय 'संगमक' देवता के अत्याचार के वर्णन के मूल में इसका क्षीण आभास मिलता है। जैन ''हरि भद्रीय वृत्ति'' में महावीर को तत्कालीन कलिंग राजा द्वारा धर्म प्रचार के लिए आमंत्रित करने की बात लिपिबद्ध है। जैन आवस्सक सुत्त में लिखा है – करण्ड नामक एक जैन राजा कलिंग में काफी विख्यात थे। इस बात का अनुमोदन बौद्ध जातकों ने भी किया है। जो भी हो, महावीर जैन शबर खण्ड में प्रवेश कर धर्मप्रचार के लिए प्रयत्न करते समय अनेक बाधा–विघ्न के सम्मुखीन हुए थे, इस में कोई संदेह नहीं। अकेले महावीर ही नहीं, परवर्ती शाक्यसिंह बुद्धदेव के छः प्रतिद्वन्द्वियों में से एक ''पुराण कश्यप'' भी उस शबर खण्ड के माने हुए बुद्धजीवी थे, ऐसा ज्ञात होता है। इस प्रकार प्रतिद्वन्द्वी धर्म मत का प्रभाव और मूल शबर धर्म के अविचलित दृढ़ विश्वास हेतु आगन्तुक वैदेशिक धर्म के संश्लेष के द्वारा कुछ अंशों में विकारग्रस्त होने पर भी पूर्णतः बदला नहीं था।

पर लगता है, तब तक यद्यपि दारुदेवता पुरुषोत्तम के रूप में उपासित होने लगे थे, फिर भी 'दारु' के साथ 'ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' के साथ 'क्षेत्र' का संयोग नहीं हुआ था। अर्थात् देवता का नाम दारुब्रह्म या आयतन का नाम पुरुषोत्तम क्षेत्र नहीं हुआ था। क्षेत्र के बारे में यदि कहें, तो बस इस युग में ही नहीं, महाभारत युग में भी 'क्षेत्र' शब्द का प्रयोग केवल ''आयत, भूखण्ड'' के लिए हुआ करता था, पर परवर्ती अभिधानकरों ने 'क्षेत्र' का 'सिद्धस्थान' या 'तीर्थस्थान' अर्थ बतलाया है। परन्तु यह होने के लिए और भी कई वर्ष लगे होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। बाद में यह शब्द पुरुषोत्तम के साथ संयुक्त होकर 'पुरुषोत्तम क्षेत्र' आख्या मिली होगी।

जो भी हो, दारु पुरुषोत्तम बनने के पश्चात् पुरुषोत्तम दर्शन के अंग उपांगादि धीरे–धीरे उसमें संयोजित होने लगे होंगे। जैन धर्म के 'केवली' भाव ने 'कैवल्य' पुरुषोत्तम के प्रसाद पर आस्था जमायी होगी। इसलिए यह कैवल्य भाव

पुरुषोत्तम के अतिरिक्त अन्य कहीं दिखाई नहीं देता। यह जैन धर्म का जीव–अजीव का एकीभाव है, इसके बाद निर्वाण। यह निर्वाण पुरुषोत्तम के प्रसाद सेवा में निहित है। परवर्ती ब्राह्मण्य धर्म में हम जो सायुज्य मुक्ति देखते हैं, वह कैवल्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पुरुषोत्तम के दर्शन मात्र से युगव्यापी कठोर साधना के अन्तिम फल कैवल्य प्राप्ति की बात सामान्य नहीं है, अन्य कहीं भी इसका पटांतर नहीं। उसी प्रकार 'चिन्तामणि' भी। पहले से कहा गया है, वृक्ष तथा शिला दर्शन शबर जाति की आदिम परम्परा है। शिला का अन्य नाम मणि है। मणि विग्रह कहने से शिला विग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाता। नीलाख्य दारु या मणि उपासना साधारण नहीं है, यह असाधारण और अचिन्त्य है। अतः वे चिन्तामणि हैं अर्थात् जिस की चिन्ता करके मनुष्य उनकी उपासना करता है, उसे उसका लाभ अनायास हो जाता है। जिन्हें देखते ही दुर्लभ कैवल्य सहज सुलभ हो जाता है, और कौन सी बात वहाँ अपूर्व है? इसी कारण से शबर के उपास्य देवता आज 'चिन्तामणि' हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सैंधव अनार्य धर्म के पुरुषोत्तम तत्व के साथ कल्पवृक्ष, कैवल्य, चिन्तामणि, आदि सभी अंग–उपांग दारुदेवता में दिखाई देने पर भी तब तक वे 'वेदान्त वेद्यब्रह्म' अर्थात् 'दारुब्रह्म' नाम से ख्यात हुए थे, इसका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता।

इसके पहले कहा जा चुका है, फिर भी दोहराता हूँ कि रामायण युग के पूर्व आर्यों ने आक्रमण के मनोभावों के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से आर्येतर अधिकृत भूखण्ड में प्रवेश किया था, ऐसा किसी भी सूत्र से ज्ञात नहीं होता है। रामायण काल से ही इसका आरम्भ हुआ है और स्वयं राम इसके पथ प्रदर्शक हैं। उसी दिन से दूसरों पर से सन्देह और अविश्वास धीरे–धीरे दूर होने लगा। इतर जाति के प्रति उदारता, सरलता, न्यायपरायणता के कारण पूर्व की धारणा बदली। धीरे–धीरे इतर अधिकृत भूखण्डों की ओर अधिक आकर्षित होकर आर्यों ने मैत्रीपाश में बँधने की इच्छा की। शतपथ ब्राह्मण वर्णित वैश्वानर (अग्नि) के सरस्वती नदी तट से सदानीरा तक के अभियान को वैदिक सभ्यता और धर्म विश्वास के प्रसारण के रूपक माना जा सकता है। इसमें अग्नि के दिग्विजय का वर्णन है। पर यह अग्नि की यथार्थ दिग्विजय नहीं है। यह एक लक्षण है। जिस प्रकार ''कलिंगः साहसिकः'' कहने से कलिंग देश के अधिवासी साहसिक हैं, समझा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी अग्नि के दिग्विजय कहने से अग्नि–उपासक ''आर्यों की दिग्विजय'' अर्थात् प्रसारण समझा जायेगा। इसमें वैदिक सभ्यता के पश्चिमोत्तर भारत से पूर्व भारत तक प्रसारित होने वाली बात को रूपक के रूप में कहा गया है। एतादृश अनुमान का परवर्ती घटनाएँ भी स्पष्ट अनुमोदन करती हैं।

आर्य गोष्ठी में रामायण युग के बाद सामाजिक धर्म संस्कार को लेकर एक प्रकार से नये विभ्राट आए, ऐसा लगता है। तब तक आर्यों में जाति भेद प्रथा की कठोर श्रृंखला और द्विजाति श्रेणी के अवाध्य अधिकार ने निम्नवर्ग के समाज पर इस तरह से आधिपत्य का जोर ड़ाला कि वे हर प्रकार से निष्पोषित, उत्पीड़ित होकर वैप्लविक समाधान के लिए उद्ग्रीव रहने लगे। क्रमशः यह आत्मसम्मानवंत तथा न्याय की कामना करने वालों के लिए असहनीय होने लगा। इसके विरुद्ध खड़े होने के लिए निम्नवर्ग की जनता ने हर प्रकार से प्रयास किया। उस समय दृष्टिकोण और आभिमुख्य बदलने के लिए एक सम्मिलित प्रचेष्टा जरूरी हो गई। अपनी वास्तविक धर्मपंथा भूलकर ब्राह्मण स्वार्थ साधन के लिए

दूसरों को निम्न से निम्नतर स्थिति में लाने के लिए कदर्य प्रयास करने लगे। धीमा व्यक्तियों की प्रचण्ड धीशक्ति अनावश्यक साहित्यिक प्रतिद्वन्द्विता में हीन बल होने लगी। अवश्य इसे उस समय का एक संक्रामक भाव कहा जा सकता है। यह भाव उस समय वैदिक आर्यों में ही नहीं देखा गया था, वरन् अवैदिक तथा अनार्य तक इस भ्रम में भ्रमित से लगे। दोनों की शाखा प्रशाखाओं में आध्यात्मिक सिद्धि एक प्रकार से असंभव सी लगी। ये सब तत्कालीन समाज में असन्तोष के कारण से लगे। फलतः प्रत्येक क्षेत्र में वैप्लविक प्रतिक्रिया का सूत्रपात होने लगा। पर अरसे से जड़ जमाए रहने वाले वर्णपति ब्राह्मणों के विरोध में प्रतिवाद करने का साहस किसी ने नहीं किया, समर्थ भी नहीं हुए। इसी तरह के एक दुविधाग्रस्त काल में ही वैदिक संस्कारकों का आविर्भाव हुआ था। वे ही पहले अग्निपरीक्षा के लिए तैयार होकर सिंह विक्रम से सामने आए। उन्हें परवर्ती काल में 'नाथपंथी' सिद्ध कहा गया।

उपर्युक्त नाथपंथी अर्हत या बौद्धों की तरह अवैदिक नहीं हैं। वे पूर्णरूप से वैदिक हैं। इनकी धारणा थी कि पोखर में उतरे बिना पंकोद्धार नहीं किया जा सकता। वैदिक धर्म का संस्कार करना हो तो वैदिक बनकर ही करना होगा। उससे विच्छिन्न होने पर नहीं हो पाएगा। इसलिए वे आर्य या वैदिकों में रहकर अबोध सूत्र या संकेत प्रधान वैदिक भाषा में प्रचलित सूक्ष्म तत्वों को सरल प्राकृत भाषा में जनसाधारण में प्रचारित व प्रकाशित करने लगे। उन्होंने सबसे पहले धर्म सम्बन्धी कृत्रिम बंधनों को छिन्न किया, जो लोगों में धार्मिक निश्चेष्टा के कारण बने हुए थे। धर्मराज्य से दासत्व की प्रथा का मूलोच्छेदन किया। स्त्री–पुरुष निर्विशेष से धर्माचरण की पुनः प्रतिष्ठा की और वर्ग भेद का विलोप किया। आध्यात्मिक मुक्ति का अधिकार सब में समान रूप से वितरित होने लगा। उपासकों में निहित उपासना सम्बन्धी तत्वों के द्वन्द्वों का समाधान हुआ। नाथपंथियों में दार्शनिक सिद्धों की तरह कवि, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, राजा भी थे, ऐसा जान पड़ता है। उनमें आदिनाथ, मत्स्येद्रनाथ, गौरक्षनाथ, गहिणीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञाननाथ क्रमान्वय से युगसिद्ध युगस्रष्टा थे, ऐसा सिद्धानुवाद, दीपिका, पाषेस्त, आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है। इनके नामों से 'नाथ' जुड़े हुए होने के कारण शायद उनके मतवाद को नाथपंथी की आख्या दी गयी है, परन्तु ये सभी सिद्धपुरुष थे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं – नाथ सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक हैं शिव या आदिनाथ। इसलिए इस सम्प्रदाय को शैव और कापालिक की आख्या दी गई है। उसे 'अवधूत सम्प्रदाय' भी कहते हैं। इस धर्म के मूल प्रवर्तक कापालिक के बारह शिष्य थे। वे हैं – 1. आदिनाथ, 2. अनादिनाथ, 3. कालनाथ, 4. अतिकालनाथ, 5. करालनाथ, 6. विकरालनाथ, 7. महाकालनाथ, 8. कालभैरवनाथ, 9. बटुकनाथ, 10. वीरनाथ, 11. श्रीकुण्ठनाथ, 12. गोरक्षनाथ। इनके फिर नागार्जुन आदि बारह शिष्य थे। तंत्रानुसारी शक्तिमार्ग के उपदेष्टा भी ये 'नाथ' हैं, ऐसा भी कहा जाता है। षोड़श नित्यातंत्र में शिव के द्वारा कहा गया है कि नवनाथों ने मिलकर तंत्र मार्ग का प्रचार किया था। यही नवनाथ ही एकादश स्कन्द वर्णित नवविप्र हो सकते हैं। आजकल वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त, इस तरह से यद्यपि चार प्रकार के तन्त्रों की जानकारी मिलती है, इनमें से शाक्त तंत्र को ही उत्कृष्ट माना जाता है, क्योंकि शाक्त तन्त्र वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार, कौलाचार, ऐसी चार विधाओं का है। कौलाचार का अन्य नाम है 'अवधूत आचार'। यह ही नाथपंथ का

सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। श्रीमद्भागवत में वर्णित यदु–अवधूत संवाद के मूल में इसी सम्प्रदाय प्रवर्तन की जड़ है, ऐसा लगता है।

नाथ आख्याधारी उपास्य सिद्धों के साथ जगन्नाथ जी का कोई सम्बन्ध है कि नहीं, अब इस पर विचार करते हैं। परन्तु इस प्रश्न का समाधान करने की प्रचेष्टा के पहले शबर खण्ड में शैव सिद्धान्त के प्रसार के सम्बन्ध में चर्चा आवश्यक है। रामायणोक्त सीताविवाह उपाख्यान से ज्ञात होता है कि तब तक क्या आर्य, क्या अनार्य सब में शिव या भैरव की उपासना प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शायद गोष्ठी विग्रह के साथ–साथ भैरव पूजक द्राविड़ गोष्ठी कई प्रकार से ख्याति प्राप्त होकर योगी और परिव्राजकों के रूप में शैव तन्त्र का प्रचार करने लगे। उनमें से एक दल ने मगध पार जाकर युद्ध से पहले भाग आए और सगोत्री द्राविड़ों के साथ रहने बसने के लिए पूर्व उपकुल में प्रवेश किया। बाद में स्वक्रिय तंत्रवाद को छल–कौशल से शबरधर्मियों पर थोपने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। धीरे–धीरे जब उस सिद्धान्त और उपासना का पर्याप्त प्रचार और प्रसार हुआ, तब जातीय देवता पुरुषोत्तम पर भी वह आरोपित हुआ होगा और पुरुषोत्तम की भैरव के रूप में उपासना का उपक्रम हुआ होगा। अतः पुराणों में हम देखते हैं कि जगन्नाथ की प्राण प्रतिष्ठा के समय पहले तान्त्रिक पद्धति के अनुसार पूजा कर्म होता है। तान्त्रिक विज्ञान के अनुसार पहले यंत्र बनाकर उसके ऊपर देवता की प्रतिष्ठा होती है। इसी के आधार पर शायद परवर्ती शक्तितंत्रवादी वामाचार प्रतिपादक ग्रन्थों में ''विमला भैरवी यत्र जगन्नाथस्तु भैरवः'' कहा गया होगा।

फिर नाथ सिद्धान्त में देखने को मिलता है कि सत्यनाथी पंथ के मूल प्रवर्तक हैं सत्यनाथ। सत्यनाथ का दूसरा नाम है 'ब्रह्मा'। स्कंद पुराणोक्त पुरुषोत्तम महात्म्य में कहा गया है कि ब्रह्मा ने ही जगन्नाथ जी की प्राण–प्रतिष्ठा की थी। इन्द्रद्युम्न महाराज ब्रह्मलोक जाकर स्वयं ब्रह्मा को आमन्त्रित कर लाए थे। इसलिए लगता है, इन्हीं सत्यनाथियों के प्रभाव से 'पुरुषोत्तम' 'जगन्नाथ' के नाम से अभिष्ठित हुए हों। उन्हीं जगन्नाथ को सिद्धयोगी के रूप में लेकर सिद्धयोगी के आयतन होने के कारण पूरी सिद्धायतन या क्षेत्र के नाम से नामित करना असम्भव नहीं है। फलतः दारुदेवता पुरुषोत्तम आदिवासी शबर और अनन्तरागत (पहले जैन और बाद में शबरधर्मी) द्राविड़ों के द्वारा जिस तरह पूजित होते आ रहे थे, उसी तरह अकस्मात् आए भैरवोपासक तंत्रवादियों के द्वारा भी पूजित होने लगे। वर्ण–धर्म–गोष्ठी–सम्प्रदाय–निर्विशेष से सबके उपास्य होने के कारण जगत के उपास्य (जगत + नाथ = जगन्नाथ) के रूप में संभवतः ख्याति पाई। फलस्वरूप शबर देवता 'जगन्त' को जगत के रूप में लेकर 'नाथ' के संयोग से जगन्नाथ की शबरों के द्वारा भी भक्ति और श्रद्धाभाजन होने में कोई असुविधा नहीं रही।

तब वैदिक धर्म संस्कार के उद्देश्य से आदिम नाथपंथी सिद्ध आर्य धर्म में विभ्राट विश्रृंखला मचाने के उपक्रम करते हैं। उनका विरोध बस पूज्यमन्य ब्राह्मण वर्ग के लिये था। इसलिए वे आगामी विरोध का सामना करने के लिए घृणित और लांक्षित निम्नवर्ग के लोगों को आयुध बनाकर संगठित करने लगे। अपने को वैदिक पंथी कहते हुए भी वेदोक्त क्रियाकाण्ड के सभी सिद्धान्तों को ग्रहण करने में कुंठित हुए। इसलिए वैदिक ब्राह्मणों के चक्षुशूल बनकर उन्होंने

आर्यावर्त के अन्दर रहने का सुयोग खो दिया, जिससे भारत की दक्षिण–पश्चिम भूमि, मध्य भारत तथा दक्षिण–पूर्व के उपकूल क्षेत्रों में बिखरे हुए से बस गए। इसके कारण धर्म प्रचार का मार्ग बन्द होने के बदले और भी सुगम हो गया। जिन–जिन राज्यों में उनका प्रवेश हुआ, उन्हीं राज्यों में प्रचार कार्य आरम्भ हो गया। उनमें से जो इस शबरांचल में आए, वे वहाँ अपने नव प्रचारित धर्म का प्रभाव विस्तार करने लगे। अतः बाद में जब वहाँ आर्य संस्कृति आने लगी, तब उन्होंने उसका निर्मम विरोध करना शुरू कर दिया। विशेषतः ''स्त्री शूद्र निर्विशेष से धर्माधिकार'' का सूत्र इसके लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ। इसलिए कुछ समय के उपरान्त शबर–जैन–शैवादि सभी धार्मिक जगत के उपास्य पुरुषोत्तम और बाद में जगत के नाथ अर्थात् ''जगन्नाथ'' नाम से अभिहित हुए। पर इस आख्या के मिलते–मिलते अनेक वर्ष अवश्य ही अतीत में बीते होंगे।

क्योंकि महाभारतीय गीता के समय 'पुरुषोत्तम' शब्द जिस भाँति सार्वजनीन था, 'जगन्नाथ' शब्द भी था, ऐसा नहीं लगता। महाभारतादि ग्रन्थों में यद्यपि 'जगन्नाथ' शब्द का प्रयोग है, परन्तु वह विशेष्य के रूप में नहीं, विशेषण के रूप में है। विष्णु पुराण में हम पहले 'जगन्नाथ' शब्द को विशेष्य के रूप में प्रयोग होते देखते हैं, उसके पहले कहीं भी आर्यग्रन्थों में 'जगन्नाथ' विष्णु या कृष्ण के पर्यायवाची शब्द के बहुल प्रयोग उल्लिखित नहीं हुए हैं। पुनश्च महाभारत में नाथांत शब्दों के बहुल प्रयोग पाये जाते हैं और उस समय भिन्न–भिन्न शाखाएँ उद्‌भावित हुई प्रतीत होती हैं, जिससे नाथपंथ का प्रवर्तन न होने पर भी उसके लिए धारणा बन चुकी थी, कहना असमीचीन नहीं होगा। यद्यपि उसका कोई विधिबद्ध शास्त्र, दर्शनादि की रचना का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। उस पंथ के धर्मगुरुओं को 'सिद्धयोगी' कहा जाता था और उनके निवास स्थान को क्षेत्र कहा जाता था। परवर्ती अभिधानकार मेदिनीकर ने शायद इसी कारण से ''क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थान कलत्रयोः'' कहकर 'सिद्धस्थान' के रूप में क्षेत्र का अर्थ बताया है। यही क्षेत्र शब्द 'पुरुषोत्तम' के साथ संयोजित होने तक पुरुषोत्तम भी जगन्नाथ बन गये होंगे, इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। पुरुषोत्तम को जगन्नाथ कहकर विश्वभर के सिद्धों में उनका उत्कर्ष बताने के लिए उनके अधिष्ठित स्थल को क्षेत्र न बतलाया गया हो, ऐसा कौन कह सकता है। पर इसे याद रखना चाहिए कि नाथपंथी की तरह 'जगन्नाथ' शब्द अगर न होता तो भी इसका विभाग और भाव, स्वत्व और तत्व सम्पूर्ण भिन्न है। अकेले 'नाथ' शब्द लेकर इसे नाथपंथियों का प्रभाव मान लेने में कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि इसका तत्व ही भिन्न है, संकेत भिन्न है। जो भी हो 'पुरुषोत्तम' 'जगन्नाथ' के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त होने के बाद ही स्थान का नाम क्षेत्र हुआ है, कहना अतार्किक नहीं होगा।

यहाँ कहना उचित होगा कि ब्राह्मण युग का ईश्वरवाद रामायण काल तक लोकप्रिय हो चुका था और वही लोकप्रियता विस्तार पाकर महाभारत काल में आर्यधर्मी हिन्दू जाति के प्रधान धर्म के रूप में पूर्णांग प्राप्त हो चुकी थी। फलतः वैदिक इन्द्र, वरुणादि देवताओं की धीरे–धीरे न्यूनता आ गई और नये–नये देवता आकर स्थान जमाने लगे। इसी मध्यवर्ती काल में वृषभवाहन शिव की शक्ति की कल्पना कर घर, संसार, पुत्रादि जैसी संसारोपयोगी कर्मयोजनाएँ शुरू हो गईं। उसी प्रकार विष्णु के लिए भी बन्धु, पत्नी, सुत, आलय, आदि की कल्पना के द्वारा उन्हें शिवजी के अप्रतिहत

प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया। अनेकत्र इन देवताओं को लेकर उनकी प्रधानता के विचार से विवाद की घटनाएँ भी काफी घटित हुई हैं। इसके लिए दृष्टान्त स्वरूप पुराणों में अनेक वर्णन पाये जाते हैं। मात्र ये दो धर्म ही क्यों, रामायण और महाभारत के मध्यवर्ती काल को भी एक बहुमुखी धर्म विप्लवयुग कहने के पर्याप्त कारण हैं।

इस युग के मध्यकाल में वैष्णव तथा शैव–सम्प्रदाय के महारथियों द्वारा आकस्मिक रूप से नये–नये उपनिषदों की रचनाएँ की गईं। सर्वशक्तिमान अज्ञेय देवता को विष्णु या शिव के नाम से अभिहित करने को सम्प्रदायों के चिन्तनशील तथा बुद्धिजीवी लोग लग पड़े। उनके नामकरणों को लेकर अनेक तर्कों की अवतारणाएँ हुईं। वैदिक विष्णु शतपथ ब्राह्मण के काल तक 'नारायण' बनकर पूजित होने लगे। शतपथ ब्राह्मण में ही सबसे पहले नारायण का नाम आया है। अवश्य तब विष्णु के साथ उनकी अभेद्य कल्पना नहीं की गई थी। पर तैत्तिरीय आरण्यक सम्बन्धी नारायणोपनिषद तक उनके साथ ब्रह्मा और शूलपाणि (शिव) को मिलकर सृष्टि–स्थिति–संहारकारण, त्रिमूर्ति की उपासना भी होने लगी। इसलिए बौद्ध धर्म सम्बन्धी त्रिरत्न या धर्म–संघ के अनुकरण से ब्राह्मण्य धर्म में ब्रह्मा–विष्णु–शिव की कल्पना हुई है, कहने का कोई तात्पर्य ही नहीं है। ज्यादा से ज्यादा परवर्ती बौद्ध युग के बाद पारिपार्श्विक निर्मम दबाव के कारण उस त्रिमूर्ति उपासना की पुनः प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न किया गया होगा। इससे उसे बोधिमार्ग या बुद्धपंथ का अनुसरण नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, महाभारत के समय ''ऊँ नमो नारायणाय'' का उल्लेख महाभारत के मंगलाचरण में ही हुआ है, अतः तब तक 'नारायण' को सर्वोत्कृष्ट देवता की प्रसिद्धि मिल चुकी थी, कहना असमीचीन नहीं होगा।

एक ओर वैष्णव धर्म के संस्थापकों द्वारा अनेक उपनिषदों के रचित होते समय, दूसरी ओर शिव का प्राधान्य दर्शाते हुए नये–नये उपनिषद समान्तराल में रचित होने लगे थे। 'शतरुद्रयोपनिषद', 'श्वेताश्वतरोपनिषद', कैवल्योपनिषद', आदि भी उस समय की रचनाएँ हैं। कौतुक की बात तो यह है कि नारायणोपनिषद में शिव हैं महादेव। वे पार्वतीपति और शक्तिधर के रूप में भी वर्णित हुए हैं। आथर्वणोपनिषदों में प्राचीनतम है कैवल्योपनिषद। उसमें उन्हें भगवान महादेव कह कर उनके साथ और चार विष्णु, गणपति, सूर्य और शक्ति को मिलाकर पंचदेवता की कल्पना की गई है। वे रुद्रोपनिषद के सर्वोत्कृष्ट आराध्य देवता हैं। बस इतना ही नहीं, अथर्व–माण्डुक्योपनिषद में 'तदविष्णो' के स्थान पर शिव–पर्याय को जोड़कर पढ़ा जाना भी देखा जाता है।

इस प्रकार के वैप्लविक वातावरण में और भी कितने अज्ञात अश्रुत धर्मवाद और दर्शन के सिद्धान्त नहीं जन्मे होंगे या जन्म लेकर लुप्त नहीं हो गये होंगे, कौन कह सकता है? अब उसका कोई संकेत या चिह्न ही नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि उनके संकेत इतर धर्मों में हों, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस प्रकार सदा के लिए उनके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता या कभी ऐसा भी समय आएगा जब कोई योचजन्मा जन्म लेगा और मशाल लेकर दुनियाँ में उन्हें प्रकाशित कर देगा। क्योंकि ''कालोह्यहं निरवधिविपुला च पृथ्वी''। जिस काल के गह्वर में सब मुहूर्त भर में निश्चिह्न हो जाते हैं, उसी काल के अनन्त स्रोत में से कब कोई जन्म लेकर धरती के लोगों को नए

उपादानों के बारे में नहीं बताएगा, ऐसा कौन कह सकता है? फिर भी पाए जाने वाले सामान्य सूत्रों के आधार पर अनुमान लगाएँ तो दोनों ऐतिहासिक महाकाव्यों के मध्यवर्ती काल में वैष्णव, शैव, शाक्त, भैरव, आदि एकाधिक धर्म और सम्प्रदाय बने और सब अपनी–अपनी प्रतिष्ठा को लेकर लड़ते–झगड़ते रहे और उस समय एकमात्र जो उदासीन हो दूर रहकर निस्पृह निर्विवाद था, वह है आदिम वृक्षधर्मी शबर।

शबर जाति पूर्वांचल की ओर आने के दिन से अपनी परम्परा के अनुसार धर्म–कर्मादि का समापन करके सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करती थी। कुछ समय के उपरान्त उनमें उपविभाग बने और दैशिक विभाजन भी संगठित हो गया। यह अवश्य प्राग–बौद्धकालीन घटना है, क्योंकि बुद्धदेव के समय उत्कल, कलिंग, आदि नाम से अलग–अलग देश थे, यही इतिहासकारों का कहना है। बुद्धदेव के जन्म के पूर्व भी कई उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। तब अकेले जैनपंथी पार्श्वनाथ के चतुर्याम धर्म ने नटपुत्र सम्प्रदाय के पंचयाम धर्म का सामना किया था। तब उच्छेदवादी, ईश्वरकारणवादी, पूव्वकेतवादी और खत्तबिज्जवादी, आदि अनेक वेदों का प्रसार शबरखण्ड में हुआ था। ईसा पूर्व षष्ठ शताब्दी में उत्कल के बस्स और भण्णा के बीच अहेतुवाद, अक्रियावाद, और नास्तिकवाद प्रचलित था, ऐसा गवेषकों का कहना है। पर कलिंग में पार्श्वनाथ के समय से ही जैन धर्म का प्रभूत प्रसार हुआ। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपनिषदकालीन विभिन्न धर्म–विप्लव के झंझावात ने कलिंग या शबरखण्ड को स्पर्श नहीं किया था।

अष्टम् प्रकाश

महाभारत का गीता धर्म और कृष्ण–वासुदेव उपासना

इस प्रकार स्पृश्यास्पृश्य विचारशून्य साम्प्रदायिक विवाद के स्वस्तिवाचनस्वरूप महाभारत संस्कृति का मंगलाचरण सामने आया। युग धर्म की ग्लानि और अधर्म के उत्थान ने सब को चौंकाया। ग्लानि कहने से यहाँ धर्म का अवसान या धर्म का पतन नहीं, धर्म में विभ्राट है। कौन से धर्म श्रेष्ठ हैं, कौन सी पंथा अवलंबनीय है? इस प्रकार दुविधाग्रस्त होकर सुविधा और सुअवसर के अनुसार स्वेच्छाचारी होना ही अधर्म का उत्थान है। इसी के समाधान के लिए परब्रह्म भगवान विष्णु का आत्मप्रकाश हुआ है। आत्म कहने से यहाँ देवता का स्वदेह से धरा पर अवतरण नहीं, दैवी शक्ति या इस तरह की कोई असाधारण बुद्धिसम्पन्न महत् पुरुष के आविर्भाव के फलस्वरूप अवांछनीय विप्लवों का समाधान, इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। इसे ही ईश्वर का आत्मप्रकाश कहा जाता है।

इस समय ही महाभारत के रचयिता महर्षि व्यासदेव का प्रादुर्भाव हुआ था। उनका जन्म वशिष्ठ गोत्री भैरवपंथी पराशर के औरस से शूद्रा मत्स्यगंधा के गर्भ से हुआ था। भैरवपंथी अपने को 'भैरवोऽहं', 'शिवोऽहं' कहते हैं, अतः शक्ति अपने आप उनकी पत्नी बन जाती हैं। इसी दृष्टि से व्यासदेव जी को 'वशिष्ठनप्तारं', 'पराशरात्मजं', 'शक्तेः पुत्र' आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। जो भी हो, व्यासदेव का विराट व्यक्तित्व, अगाध विद्वत्ता, विशाल प्रतिभा अब भी विश्व भर में अप्रतिद्वंद्वी है। उनका असामान्य ऐतिहासिक ग्रन्थ 'महाभारत' विश्व में अतुलनीय है। महाभारत शब्द का यहाँ 'जय' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। ''जयनामेतिहासौ यम्''। जर्मन विद्वान लेवी (Levi) ने इसे 'संहिता' की आख्या दी है। ग्रन्थ के मंगलाचरण ही में लिखा हुआ है –

''नारायण नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमं।

देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत।।''

प्राच्य समालोचक सी. वी. वैद्य वेदव्यास को 'अर्ध वैष्णव' कहते हैं। पण्डित नीलकण्ठ दास उन्हें आर्येतर जाति के रूप में अभिहित करते हैं, पर वे एक नारायणोपासक वेदधर्मी तथा शाखा प्रवर्तक थे, यह निर्विवादित विषय है। यथार्थ में इन्हीं की साधना से 'त्रयी' (वेद) ऋक्, साम, यजु और अथर्व इस तरह चतुष्टय होकर 'भारत' के साथ पंचत्रय हुआ अर्थात् इसी युग में और दो वेदों की सर्जना हुई। महर्षि वेदव्यास एक योगजन्मा महापुरुष और उनकी साधना एक युग प्रवर्तक साधना है, इसमें सन्देह नहीं।

अब महाभारत या वैयासिकी संहिता–कालीन संस्कृति के प्रसंग में चर्चा करें। महाभारत की विषयवस्तु के बारे में कहना अनावश्यक है। शायद ऐसा एक भी भारतीय नहीं होगा जो महाभारत कथा को जानता नहीं हो। यह कौरव–पाण्डवों में एक अवांछित युद्ध घटना पर लिखित है। इसलिए कवि ने इसका नाम 'जय' रखा था। पुराण कथित सौति के बाद उसे 'भारत' और ऋषि वैशम्पायन के बाद उसे 'महाभारत' के नाम से अभिहित किया गया। लगता है,

परवर्ती नामकरण मात्र श्लोकों की संख्या और प्रक्षिप्त कथाभाग के आधार पर हुआ है। विशेषतः मूल कथावस्तु सम्बन्धी आठ हजार आठ सौ श्लोक ही व्यासदेव की रचना हैं। बाद में सौति हों या वैशम्पायन हों, या कोई और, मूल इतिहास की अन्तिम परिणति को अपरिवर्तित रखकर कई प्रकार की कल्पना और आख्यान–उपाख्यान जोड़कर स्थल विशेष में उपदेशात्मक करते हुए उसे 'महाभारत' अर्थात् शतसाहस्री के रूप में रूपायित किया है। अतः कथित है –

''मन्वादि भारतं केचित् आस्तिकादि तथा परे।

तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः संम्यगध्यीयरे।।''

अतः उपाख्यानों पर चर्चा न करके मूल कथाभाग से कुछ संग्रहीत किया जा सकता है।

मूल कथा वस्तु चाहे जो भी हो, उसमें यदुवंशी देवकी पुत्र कृष्ण की अवतारणा जिस प्रकार सरस है, उसी प्रकार कौतुहलोद्दीपक भी है। यही कृष्ण कौन हैं? इस प्रसंग में अब भी पंडितों के मन में संदेह है। कृष्ण नामक एक यज्ञादि कर्मकाण्ड के विरोधी महापुरुष के बारे में ऋग्वेद में वर्णित है। कर्मकाण्डियों ने उन्हें अंशुमती नदी के तट पर परास्त किया था, ऐसा भी उल्लेख है। फिर छान्दोग्योपनिषद में देवकीपुत्र कृष्ण ने घोर–अंगीरस से यज्ञतत्व के बारे में शिक्षा प्राप्त कर वेदधर्मी आर्यों के विरुद्ध एक संशोधन या धार्मिक रीतियों में संस्कार लाए थे, ऐसा भी वर्णित है। महाभारत के रचयिता महात्मा व्यासदेव का अन्य नाम कृष्ण है। मध्यम पांडव महारथी अर्जुन का अन्य नाम भी कृष्ण है, अतः इसकी पुंखानुपुङख तत्वालोचना कर मनीषी नीलकंठ दास ने कहा है – यह अधिक सम्भव है कि वृष्टि या यादव वंश के कृष्ण हैं वासुदेव। वासुदेव धर्म का प्रसार पाणिनी के समय तक हो चुका था। यह वैष्णव धर्म का आदिकाल था। श्रीमद्भागवत् गीता की रचना तक यही कृष्ण विष्णु, ईश्वर, पुरुषोत्तम सभी एक बन चुके थे। अतएव छान्दोग्योपनिषद में जब हम कर्मकाण्ड के विरोधी कृष्ण का नाम पाते हैं, तो लगता है महाभारत के कृष्ण के साथ उनका कई दृष्टि से सामंजस्य है। छान्दोग्योपनिषद और महाभारत की रचना में जब हम समकालिकता का अनुभव करते हैं, तब दोनों में कृष्ण एक और अभिन्न हैं, कहने में कोई असुविधा नहीं है। ऋग्वेद वर्णित कृष्ण के साथ महाभारत के कृष्ण को मिलाने का कोई अर्थ ही नहीं बनता। ऋग्वेद में केवल 'कृष्ण' ही नही हैं, अपितु विष्णु, लक्ष्मी, गणपति, आदि शब्द भी हैं। इसी से महाभारतीय कृष्ण को एक संशोधक–संस्कारक महापुरुष कहा जा सकता है, अनायास ही नही। वेद में अनेक अर्वाचीन देव देवियों के नाम अलग–अलग अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

महाभारत के कृष्ण एक रक्तमांसधारी महामानव या अतिमानव थे। उनके सारे कार्यों में 'धर्म' की ग्लानि के समय अधर्म का विरोध कर अभ्युत्थान के लिए उसका समाधान और संशोधन ही प्रमुख है। यज्ञधर्मी–यज्ञविरोधी, शिवधर्मी–शिवविरोधी, तंत्रधर्मी–तंत्रविरोधी, इसी प्रकार के भिन्न–भिन्न वातावरण में किसी सार्वजनीन और लोकप्रिय धर्म की स्थापना करना सामान्य बात नहीं। इसके लिए देश–काल–पात्र विशेष से स्थिति देखकर व्यवस्था करना कृष्ण की नीति थी। उनके मतानुसार धर्मपालन के लिए गधे के भी पैर पकड़े जा सकते हैं। अत्याचारी, बलशाली शत्रु के विरुद्ध हीन षड्यन्त्र भी किया जा सकता है। आत्मीय–स्वजनों की हत्या भी अकुंठित चित्त से की जा सकती है। आवश्यक होने

पर स्ववंश का नाश भी किया जा सकता है। यही श्रीकृष्ण का धर्म था – गीता धर्म। उनकी दृष्टि में देवता एक भावना की वस्तु हैं और वे 'भूतभव्यभवन्नाथः', हे विश्वव्यापी, विश्वतोमुख, विश्वप्राण–परमात्मा, ''सोऽहं–हंसः ''सरल भाषा में कहें तो सब कुछ अकेले वही हैं, अर्थात् वे ही आराधक हैं और आराध्य भी। इसलिए समग्र गीता में उत्तम पुरुषकर्ता हैं। हर शरीर में उन्हीं की सत्ता है, हर जीवन में उन्हीं की प्रतिष्ठा। इसलिए प्रत्येक व्यष्टि में वह समष्टि हैं। व्यष्टि का तिरोधान अर्थात् समष्टि में अनुप्रवेश और वह अनुप्रविष्ट समष्टि ही विष्णु हैं। यही कृष्ण का सार मर्म है – गीता धर्म। इस धर्म के अनुपालन के लिए पहले कर्म की आवश्यकता होती है। 'योग' अर्थात् ज्ञान के बिना कर्म करना दुरूह है। धर्म के लिए कर्म और कर्म के लिए योग अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा धर्म की रक्षा हो नहीं पाएगी। स्पष्टतः कहें तो धर्म और कर्म का योग ही साधक की साधना है, पुरुष में पौरुष है। यही गीता का आदर्श है, सारमर्म है, श्रीकृष्ण का आदर्श भी। इस दृष्टि से, अर्थात् विष्णु धर्म की मूल प्रतिष्ठा के रूप में कृष्ण अर्थात् विष्णु का आत्मप्रकाश, यानि वे विष्णु के अंशावतार नहीं हैं, वे स्वयं अवतारी हैं।

जिस दृष्टिकोण से कृष्ण को विष्णु का स्वयंप्रकाश कहा गया, वह हमने जाना। वैष्णव धर्म के प्रवर्तन और प्रसार प्रतिष्ठा के सूत्रधार के रूप में जैसे हमने उन्हें स्वीकार किया है कि वे विष्णु हैं, वैसे ही इतिहास के आधार पर वैष्णवधर्म प्रधान महाभारत ग्रन्थ के रचयिता के रूप में पुण्यश्लोक वेदव्यास को भी विष्णु का अवतार कहा जाता है। इसलिए ''व्यासाय विष्णुरूपाय विष्णवे'' कहा जाता है। व्यास के द्वारा महाभारत ग्रन्थ में जिस धर्म की नींव डाली गयी, विजयसखा श्रीकृष्ण ने उस पर सप्तश्लोकी कहें या सप्तशती कहें, गीता की तरह एक विशाल सौध के निर्माता के रूप में वर्णित हुए। यह उस समय के धर्म विप्लव का एक विराट समाधान है। इसी उद्देश्य से उस समय के भारतवर्ष की विपुल जनता को अपने प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी थी। चन्द्रवंश, यदुवंश, कुरुवंश, आदि क्षत्रीय वंशों का विनाश भी हो गया। अन्त में आर्य–अनार्य संस्कृति के संघर्ष और समाधान के माध्यम से कृष्णधर्म की प्रतिष्ठा सी हुई। इसी दृष्टिकोण से महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। पर इसे कौरव और पाण्डवों में घटित अधिकार को लेकर युद्ध की भाँति चित्रण किया गया है। फिर भी ये दोनों बातें उसमें इस तरह गुंथी हुई हैं कि उन्हें आसानी से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए पाश्चात्य आलोचक वैबर (Webber) इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर पाए तो उन्होंने कहा – महाभारत से एक बात को तो मानना ही होगा। अवश्य यह सच है कि जब आर्य भारत में स्थायी निवास की प्रतिष्ठा करने आए, तब आपस में एक महायुद्ध संघठित हुआ था। तब तक वे स्थानीय अधिवासियों पर अपने आधिपत्य का विस्तार कर चुके थे और उन्हें ब्राह्मण्य धर्म में दीक्षित कर चुके थे। इसलिए महाभारत युद्ध राज्य के कारण से या धर्मगत द्वन्द्व को लेकर हुआ था, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त एक और दृष्टि से विचार करने पर भी इस बात का पता चलता है। व्यास रचित महाभारत का नाम था 'जय'। जय ही युद्ध की अन्तिम परिणति थी। उस अन्तिम परिणति का कारणस्वरूप धर्म को लिया गया है। ''यतो धर्म स्ततो जयः''। जिस ओर धर्म है, उसी ओर जय है। अन्यार्थ में जिस ओर अधर्म है, उसी ओर पराजय है। तो

युद्ध में विजयी हुए युधिष्ठिर और पराजित हुए राजा दुर्योधन। युधिष्ठिर का पक्ष न्याय का था, इसमें कोई मतान्तर नहीं। विशेषतः कृष्ण की तरह एक महापुरुष ने स्वेच्छा से अधर्म का पक्ष लिया होगा, ऐसा नहीं लगता। कथित है – ''यतः कृष्ण स्ततो धर्मः, यतो धर्म स्ततो जयः'' अर्थात् जिस ओर कृष्ण हैं, उसी ओर धर्म है और जिस पक्ष में धर्म है, उसी ओर विजय है। यहाँ धर्म का अर्थ है कृष्ण प्रचारित सार्वजनीन गीता धर्म। इसके अतिरिक्त दूसरे सभी धर्म अधर्म हैं। यहाँ फिर देखना होगा कि उस समय गीता धर्म के अतिरिक्त और किन–किन धर्मों ने प्रतिष्ठा पाई थी तथा कौन से धर्म गीता धर्म के प्रतिकूल आचरण करके भी कुंठित नहीं थे। महाभारत पढ़ने से लगता है कि सत्य और न्याय परायण युधिष्ठिर के मन में यज्ञधर्म के प्रति जिस प्रकार आग्रह था, उसी प्रकार दुर्योधन के मन में पारत्रिक सुख से ऐहिक सुख–संभोग के प्रति अधिक आसक्ति थी। अर्थात् एक ओर स्वर्गप्रापक यज्ञधर्म और दूसरी ओर भोग–विलास–सर्वस्व पार्थिव आदर्श समांतराल गति से चलते थे। इसके अतिरिक्त असुरधर्मी नाम से एक प्रकार की कृष्णविरोधी गोष्ठी भी थी, जिसकी वैधानिक रूपरेखा की कोई सूचना नहीं मिलती है। फिर भी वह प्राचीन शैवधर्म की अपभ्रंश सी लगती है। उस पर असुरों की गोष्ठी में तांत्रिक साधना के अद्‌भुत क्रियाकाण्ड भी परिदृष्ट होने के कारण लगता है कि शक्ति उपासना के अंगीभूत बलिदान आदि प्रथा के प्रति भी आग्रह की अभिवृद्धि होने लगी थी। पर गीता धर्म मानव समाज में सुकल्याण के लिए धर्माधर्म निर्विशेष से आहरण और विसर्जन के द्वारा अपने को पुष्ट करके सभी धर्मों के अनुकूल एक स्वतन्त्र धर्म के रूप में लोकप्रिय होने लगा था। इसलिए बहुमत से यह ही 'धर्म' के नाम से परिचित हो गया था।

इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में नानाविधि विभाग संगठित होने के बाद शासन के क्षेत्र में जो दैशिक विभाजन होता जा रहा था, उस पर भी विचार करने की आवश्यकता है। पूर्व युग के सम्पूर्ण अनजाने, अनसुने कितने राज्य परवर्ती युग में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुके थे। केवल यही नहीं, रामायण काल के नामान्तर भी महाभारत काल में पाए जाते हैं। इस दीर्घ काल की अवधि में कुछेक राज्यों के अस्तित्व भी मिट गए और कितने नूतन राज्य भी प्रतिष्ठित हुए, इसकी कोई गणना नहीं। एक–दूसरे के राज्य पर आक्रमण और विक्रमण के कारण भी कहीं–कहीं पूर्व नाम में परिवर्तन आए। अधिक दूर नहीं, यह शबर खण्ड ही कभी 'ओड्र', तो कभी 'उत्कल', तो कभी 'कलिंग' के नाम से नामित हुआ है। इसके अतिरिक्त कहीं–कहीं शासकों के पुत्रों में बँटवारे के कारण राज्य विभाजन को लेकर नए–नए नामों के राज्य भी आए। ''पटायत राज्य का उत्तराधिकारी'' नामक इसी प्रथा के प्रचलित होने के बाद राजाओं द्वारा एकाधिक पुत्रों में अपने राज्य को बाँट देने के उदाहरण भी पुराणों में कम नहीं हैं। इन्हीं कारणों से काल के परिवर्तन के साथ–साथ दैशिक परिवर्तन भी पाए जाते हैं।

महाभारत से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर की ओर से लड़ने के लिए जो राजागण एक–एक अक्षौहिणी सेना लेकर आए थे, वे हैं – 1. पांचाल नरेश द्रुपद, 2. मत्स्य नरेश विराट, 3. चेदीराज शिशुपाल के पुत्र धृष्ठकेतु, 4. सत्यवात राजा चेदीवंशीय युयुधान या सात्यकि, 5. असुरराज जरासन्ध के पुत्र जयत्सेन, 6. पाण्ड्य नरेश जिनका नामोल्लेख महाभारत में हुआ नहीं है।

इसके अतिरिक्त और कितने ही छोटे–छोटे राज्यों के राजा कम संख्या में सेना लेकर आए थे और शामिल हुए थे। कुल मिलाकर युधिष्ठिर की सेना की संख्या सात अक्षौहिणी हो गई थी। दुर्योधन की ओर से युद्ध करने के लिए जो राजा एक–एक अक्षौहिणी सेना लेकर आए थे, वे इस प्रकार हैं – 1. उत्तर–देशीय पार्वत्य राजा हरिदवर्ण भगदत्त, 2. मद्रदेश से राजा शल्य जो नकुल और सहदेव के मामा हैं, 3. यदुवंशीय भोज देश के राजा कृतवर्मा, 4. सिन्धु–सौवीर राजा जयद्रथ, 5. काम्बोज नरेश सुदक्षिण, 6. दाक्षिणात्य की राजधानी महिष्मती के राजा नील, 7. अवन्ति के राजा नन्द–उपनन्द, 8. केकय देश के राजा जिनका नामोल्लेख नहीं हुआ है, 9. भूरिश्रवा। इनके अतिरिक्त छोटे–छोटे राज्यों के राजा भी अपनी सेना लेकर आए थे; उन्हीं में निषाद सैन्यों के साथ कलिंग राजा के भी सम्मिलित होने की बात वर्णित है। वैसे कुल मिलाकर कौरव पक्ष की सेना की संख्या ग्यारह अक्षौहिणी होती है। इस प्रकार ग्यारह और सात अक्षौहिणी अर्थात् अठारह अक्षौहिणी सेना लेकर महाभारत का युद्ध हुआ था और अठारह दिनों के बाद जब युद्ध की समाप्ति हुई, तो मात्र एक अक्षौहिणी जीवित थे। इस आंकड़े से हमारे लिए केवल कलिंग राजा के निषाद सैन्यों को लेकर युद्ध में सम्मिलित होना ही विचारार्थ है। और यह भी कि उन्होंने दुर्योधन का पक्ष लेकर युद्ध किया था। तब तक शायद शबर खण्ड में कलिंग नामक एक क्षेत्र की सृष्टि हो चुकी थी। 'कलिंग' शब्द मूलतः द्राविड़ी तामिल भाषा से गृहीत शब्द है। यह भाषातत्वज्ञों की उक्ति है। 'कलिंग' में प्राचीन काल से अच्छे कपड़े बुने जाते थे और वे तामिल राज्यों को भेजे जाते थे। इसलिए तामिल में कपड़े को कलिंग कहा जाता था। सुतरां ब्रह्मदेश की कलिंग जाति जिस प्रकार सांप्रतिक काल में 'काल' के नाम से परिचित होते हैं, वैसे ही ओड़िशा के नयागढ़ और गंजाम में 'कोली' नामक आधुनिक जुलाहों की जाति को प्राचीन 'कलिंग' जाति के रूप में चिन्हित किया जाता है। अतः अनुमान है कि उस समय कलिंग जाति के साथ जैन द्राविड़ समुदाय का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध था, वैसा आर्यों के साथ नहीं था। यज्ञधर्मी आर्यमतानुमोदित युधिष्ठिर के पक्ष में न आकर यज्ञविरोधी असुर समर्थित दुर्योधन के पक्ष में सम्मिलित होना कलिंग राजा के लिए स्वाभाविक था। इससे यह समझना उचित नहीं होगा कि तब तक पूर्व भारतवासी शबरों के दारुदेवता पर जैन द्राविड़ों के पुरुषोत्तम तत्व मिलकर महानैक्य सम्पादन में लगे हुए होने के कारण दारुदेवता की मौलिकता और स्वातन्त्र्य क्षीण हो रहा था। क्योंकि वह होता तो शबरों में एकाधिक धर्म मतों का अस्तित्व न पाया जाता। महाभारत वर्णित कलिंग और उत्कल राज्य के सम्बन्ध में यही ज्ञात होता है। प्रभाव अत्यधिक पड़ते समय उत्तर–पूर्व उपकुलवासी शबरों पर से दारुधर्म या साम्य–मैत्री धर्म पूर्णरूप से लुप्त नहीं हो गया था, शायद इन दो क्षेत्रों को तब कलिंग और उत्कल के नाम से नामित किया गया था। पर 'कलिंग' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग न होकर कुछेक निर्दिष्ट क्षेत्रों को कहा जाता था। इसमें उत्कल का कोई सम्बन्ध नहीं था। जो कुछेक क्षुद्र राज्य युद्ध के कोलाहल से दूर थे, उसमें से उत्कल एक था। आर्य या द्राविड़ों के प्रभाव से प्रभावित न होकर एक स्वाधीन चिन्तन संबलित वैदेशिक नीति अपनाकर शायद उसे और किसी विवादास्पद गोष्ठियों में सम्मिलित नहीं होना पड़ा था। अनार्य प्रभावित सहोदर राज्य कलिंग के युद्ध में भाग लेने के बाद भी कहीं भी स्वतन्त्रधर्मी उत्कल ने उसे पसन्द नहीं किया था। इसलिए महाभारत युद्ध में उत्कल का कहीं नामोल्लेख

नहीं है। महाभारत ग्रन्थ एक महायुद्ध का इतिहास है। इसमें जो राज्य अथवा देश सम्मिलित हुए थे, उनका नाम आना चाहिए। इसी कारण से कलिंग का नाम है। अतः परवर्ती बौद्ध ग्रन्थ ''महिम निकाय'' में 'उत्कल बस्स भअआ' अर्थात् 'उत्कल वर्ष भूयां' लिखित होने के कारण लगता है कि ईसा पूर्व पाँचवीं सदी तक उत्कल नामक एक राज्य की स्थापना हो चुकी थी। रघु के दिग्विजय प्रसंग में कालिदास ने भी यही लिखा है। आधुनिक इतिहासकार भुवनेश्वर के निकटवर्ती धउलि पहाड़ के पाद प्रदेश में कलिंग युद्ध के होने का अनुमान लगाते हैं। यह सम्भवतः कलिंग की सीमा थी। उत्कलवासी साम्यधर्मी और मैत्रीधर्मी थे। इसी कारण अशोक के विरुद्ध अस्त्र धारण न करके रघु को मार्ग दिखाने की भाँति अशोक को भी निर्बाध ही मार्ग दिखाया होगा। उत्कल की सीमा पार करके मगध सेना ने जब कलिंग के सीमांत में पदार्पण किया, तब दुर्धर्ष कलिंग सेना ने उसका गतिरोध किया। सम्भवतः पराक्रान्त अशोक की सेना को अपने राज्य में प्रवेश होने देने के पहले ही कलिंग सेना आत्मोत्सर्ग कर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हो गई। इससे भी इन दोनों राज्यों के अलग होने का प्रमाण मिलता है। दोनों अगर एक होते तो शत्रु सेना महानदी के तट तक नहीं आ पाई होती। इन दोनों राज्यों के पृथक होने के कारण ही कलिंग के लोगों को अपनी सीमा में शत्रु सेना के प्रवेश लेने तक की प्रतीक्षा करनी पड़ी। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत के समय कलिंग और उत्कल दो अलग राज्य थे। उनमें से कलिंग ने दुर्धोधन का सहयोग किया और उत्कल निरपेक्ष रहा।

महाभारत में एक और उल्लेख है। अतीत में अंगराज कर्ण ने कौरवों की ओर से उत्कलियों को युद्ध में परास्त किया था और एक बार सहदेव ने भी केरलीयों के सहित उड्रों को पराजित किया था। इससे अनुमान है कि उड्र कौरव या पाण्डव किसी के भी पक्ष में नहीं थे। इसके बाद भी उत्कल के राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में निमंत्रित होने पर गए थे। अतः कह सकते हैं कि उत्कलीय शान्तिप्रिय थे और उनके स्वाधीनचेत्ता होने के कारण किसी भी देश की किसी भी धर्मसंस्था में योगदान करने के कारण वे कुंठित नहीं होते थे। और यही उत्कल का प्राचीन इतिहास है – वृक्षधर्म।

उसके बाद ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के समय उत्तर–पश्चिम भारत में कृष्ण प्रवर्तित गीता धर्म का काफी प्रसार हुआ और उसके निचोड़ के रूप में वासुदेव पूजा का प्रारम्भ हुआ। वह ब्रजपुर के 'गोपाल कृष्ण' की पूजा नहीं है, वह तो 'द्वारिकाधीश कृष्ण' की पूजा है, जिनका अन्य नाम 'वासुदेव' है। राजपूताना के 'घोसुण्डी' नामक जगह से प्राप्त ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के एक शिलालेख से पता चलता है कि तब भारत में वासुदेव पूजा को पर्याप्त प्रसिद्धि मिल चुकी थी। पुनश्च 'वेशानगर' से प्राप्त हेलिओडेरस के शिलालेख से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व दूसरी सदी तक यही गीता धर्म उर्फ भागवत धर्म यहाँ तक प्रख्यात हो चुका था कि उसे आगन्तुक विदेशी ग्रीकों ने भी अपनाया था। मेधास्तिनिस के कथनानुसार यमुना के तटवर्ती मथुरा नगरी में भी वासुदेव 'कृष्ण' की पूजा का प्रवर्तन हो चुका था। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का कहना है – उपनिषदीय चिन्तन को मूल मानकर पश्चिम भारत में कृष्ण वासुदेव धर्म का प्रवर्तन हुआ था। वह गीता धर्म के अतिरिक्त कुछ और है, ऐसा नहीं लगता। इसी मत को –

''सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्''

इस वाक्य से समर्थन भी प्राप्त होता है। स्वर्गीय बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता रहस्य में लिखा है – उपनिषद में और बुद्ध के आविर्भाव के पहले वासुदेव भक्तिमूलक 'भागवत धर्म' नाम से एक धर्म प्रचलित था। जर्मन संस्कृत विद्वान पंडित श्री विल्डर के मतानुसार भी जैन धर्मगुरु महावीर के आविर्भाव से पहले देवकी पुत्र कृष्णः वासुदेवः के उपासनामूलक धर्म का भारत में प्रचलन था। इसके अतिरिक्त बौधायन के गुह्यसूत्र में ''ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय'' मंत्र का उल्लेख और पाणिनी के अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में वासुदेव उपासना के संकेत देखकर कह सकते हैं कि ईसा पूर्व आठवीं सदी तक भारत में वासुदेव कृष्ण की पूजा का प्रचलन हो चुका था, क्योंकि बौधायन ईसा पूर्व आठवीं सदी के और पाणिनी ईसा पूर्व छठी सदी के हैं।

ये वासुदेव कृष्ण महाभारत के कृष्ण के अतिरिक्त कोई और नहीं हो सकते, क्योंकि कृष्ण और वासुदेव अलग नहीं हैं। जो कृष्ण हैं, वे ही वासुदेव हैं। तो एक के लिए दो नामों के प्रयोग का क्या उद्देश्य हो सकता है, यह भी विचारणीय है। यह स्वीकार्य है कि कृष्ण शब्द मूल है, विशेषण है। वसुदेव + अ = वासुदेव। शायद देवकी, वसुदेव की पत्नी के रूप में पुराणों में वर्णित हुई हैं, इसलिए ''कृष्ण'' शब्द के साथ ''देवकी पुत्र'' का भी एकत्र प्रयोग पाया जाता है और इसी कारण से ही उन्हें वसुदेव या वासुदेव कहा गया है। बाद में देवकी पुत्र कृष्ण ''वासुदेव'' के नाम से नामांतरित हो परिचित हुए होंगे। वासुदेव को एक समस्त पद भी कहा जा सकता है। संभवतः पौराणिक ''वसु'' उपाख्यान लोक प्रचारित होने के बाद कृष्ण की वासुदेव आख्या को प्रसिद्धि मिली होगी, क्योंकि कृष्ण के अंगावशेष उन्हीं के द्वारा संरक्षित हुए थे, ऐसा पुराण–वर्णित है। और फिर उसी समय ही लोगों के समक्ष आया। जो भी हो, ईसा पूर्व आठवीं सदी तक उत्तर–पश्चिम भारत में कृष्ण का ''वासुदेव'' के रूप में उपासित होना मिथ्या नहीं है। परन्तु शबर खण्ड में एतादृश प्रतिपत्ति का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

नवम् प्रकाश

दारुदेवता की क्रम परिणति – जगन्नाथ

उधर भक्ति प्रधान भागवत धर्म के प्रसारित होते समय, इधर दक्षिण–पूर्व भारत में किस प्रकार का धर्म प्रचलित था, वह भी विचारणीय है। अष्ट्रिककालीन वृक्षपूजा के अवशेष के रूप में शबरों में वृक्षपूजा के बारे में पहले ही कह चुका हूँ। 'वृक्ष' कहने से यह नहीं लगता कि वह अश्वत्थ के अतिरिक्त कोई और वृक्ष है क्योंकि 'पिप्पल' या 'अश्वत्थ' वृक्ष केवल प्रटोअष्ट्रॉलएड़ों का उपास्य था। उनके धर्म का नाम भी 'अश्वत्थ धर्म' (Cult of Ficus Tree) था, परन्तु बाद में भारतवर्ष के सभी धर्मों में उसकी प्रमुखता दिखाई दी। ऋग्वेद में वर्णित है कि वरुणलोक में एक वृक्ष है, जिसके अग्रभाग में 'स्वादिष्ट पिप्पल' है। उस पर दो सुपर्ण नीड़ बना है। अथर्ववेद में भी इसी के अनुरूप वर्णन है। उसमें लिखा है कि अश्वत्थ वृक्ष देवताओं का निवास स्थान है। यह तृतीय लोक में अवस्थित है। यदुवंशी श्रीकृष्ण के अश्वत्थ वृक्ष के नीचे तिरोहित होने का वर्णन श्रीमद्भागवत में है। गौतम बुद्ध के अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्ति के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है। यह वृक्ष बोधिद्रुम के नाम से विख्यात है। निष्परिग्रह धर्मी जैनों के धार्मिक चिह्न भी वही अश्वत्थ या कल्पवृक्ष हैं। यहाँ तक कि परवर्ती वैष्णव धर्म के प्रधान देव विष्णु का नामान्तर भी अश्वत्थ है, परन्तु यथार्थ रूप से विचार करें तो वृक्षोपासना शबरों का निजस्व है। उनकी मौलिकता को अपना बनाने की प्रचेष्टा आवहमान काल से दूसरों के द्वारा होती आई है। इतना ही नहीं, शबर के उपास्य दारु को अपना बनाने के लिए परवर्तीकाल में जैनधमी, बौद्धधर्मी, तंत्रधर्मी, आदि सबने यतपरोनास्ति प्रयास किया है, परन्तु इन सभी सम्प्रदायों में से मात्र जैन सम्प्रदाय के धर्मगुरुओं ने जैसे दारुदेवता को अपनाया है, वैसा दूसरे नहीं कर पाए।

पहले ही कह चुके हैं कि शबरों के आदिम वृक्षदेवता काल के क्रम में दारु के रूप में उपासित होते आए हैं। परम्परानिष्ठ शबर पुराकाल से जिस वृक्ष की उपासना करते आए थे, उसके शुष्क होने पर भी उसकी पूजा दारु के रूप में की; मूल वृक्ष में परिवर्तन आए तो भी पूजादि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पहले जीवित वृक्ष को प्रणाम कर जैसे पूजा करता था, उसी प्रकार सूखे पेड़ को प्रणाम करने में कुंठित नहीं हुआ। कुछ काल के पश्चात् वह शुष्क दारु भी मौसम के प्रभाव से अवश्य ही विकृत, विकलांग हो गया होगा। तब शायद उस पेड़ का तना मादला की तरह दिखा होगा। अब भी प्रमुख शबरों में मादला पूजा प्रचलित है। इस मादला में स्त्री–पुरुष दोनों प्रकार की मूर्तियों का प्रचलन है। तत्कालीन द्राविड़ समाज पर भी इसका प्रभाव कम नहीं हुआ होगा। अब भी पारलाखेमुण्डि के निम्न द्राविड़ों में (आंध्र) कार्तिक मास के कृष्णपक्ष में 'गिरिआम्मा' नाम की एक पूजा प्रचलित है। पूजा के अवसर पर लकड़ी में एक नारी की प्रतिमा सजाकर गाँव भर में घुमाते हैं और बाद में उसे जल में विसर्जित कर देते हैं। जो भी हो, शबरों में मादला पूजा अति प्राचीन काल से प्रचलित है, यह मिथ्या नहीं है। शायद प्राचीन काल में नष्ट दारु के अनुकरण में एक हस्त–पाद शून्य मादला को गुफा के अन्दर रखकर पूजा करते थे। इस अनुमान के बारे में श्री गुरुदास सरकार ने एक जर्मन विद्वान के वक्तव्य को

उद्धृत करते हुए कहा है – ''वे मूर्तियाँ अर्थात् जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की मूर्तियाँ पेड़ के तने के अंशमात्र हैं। वह शायद अच्छी प्रकार से साफ या तराशे हुए भी नहीं हैं।'' ओड़िशा के सीमान्त क्षेत्र गंजाम के माल इलाके में 'सौरा' नाम से परिचित एक शबर जाति के लोग अब भी मुँह और आँख वाले काष्ठ खण्ड (Wooden Poles) की पूजा करते हैं और उन मूर्तियों के आगे बलि चढ़ाने की भी व्यवस्था होती है। (चित्र द्रष्टव्य)

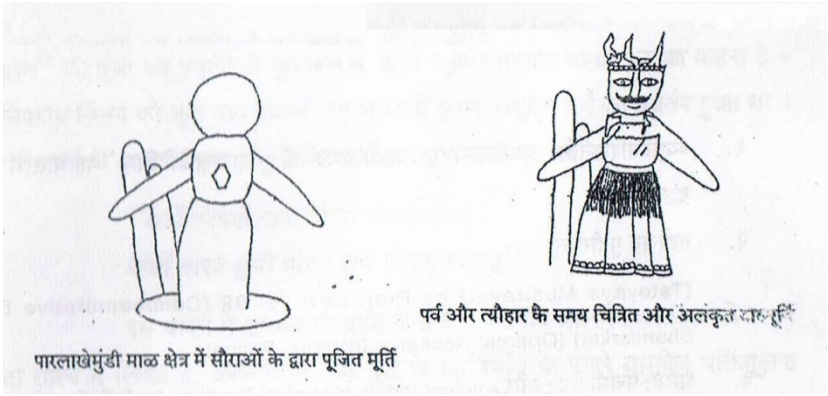

पारलाखेमुंडी माळ क्षेत्र में सौराओं के द्वारा पूजित मूर्ति

पर्व और त्यौहार के समय चित्रित और अलंकृत [illegible]

इससे ज्ञात होता है कि जगन्नाथ की पूजा वृक्ष का तना या मादला पूजा का परिवर्तित रूपमात्र है। शायद इसी कारण से परवर्ती युग में जगन्नाथ के दैनन्दिन विधानों को लिपिबद्ध करते समय, लिपिबद्ध करने की पंजिका को प्राचीन देवता 'मादला' के नाम के अनुसार 'मादलापांजि' के नाम से अभिहित किया है। अवश्य ही वह पंजिका मर्दलाकार से लपेटकर व बाँधकर भी रखी गई होगी। इसी कारण से उसका नाम 'मादलापांजि' रखा गया, यह तर्क सही है, ऐसा नहीं लगता। क्योंकि लेखन के प्रारम्भकाल में उस पंजिका को मर्दल के आकार में बाँधा नहीं गया होगा। बाद में जब नई घटनाएँ जोड़ी जाती रहीं, उसी के अनुसार पृष्ठ संख्या भी बढ़ती गई, तब उसे किसी आकार में लपेटकर बाँधे रखने की आवश्यकता हुई होगी और संयोग से वह मर्दलाकार रूप हो गया होगा। इसी प्रकार कई तालपत्रों की पोथियों को खाट, चतुष्कोण, लेखनी, आदि के आकार में तहकर रखा हुआ पाया जाएगा। यह कार्य अवश्य उस समय के लेखनकारों की कलाप्रियता की सूचना देता है। पर ये उन नामों से नामित हुए हैं, ऐसे उदाहरण नहीं पाए जाते। और लेखन के प्रारम्भ काल में भविष्य के लिए उसे इस आकार में रखना है, तय नहीं किया जाए तो उसी के अनुसार नामकरण करना भी संभव नहीं है, वह एक प्रकार से असंभव ही है। अतः विचार करें तो लगता है कि आकृति की समानता को लेकर उसे 'मादलापांजि' नहीं कहा गया है, बल्कि वह मादला (जगन्नाथ) संबंधीय पंजिका होने के कारण उसका नाम 'मादलापांजि' हुआ है।

इन सबके सात्विक अनुसंधान के बाद इतिहासविदों के कथनानुसार शबर और शहर (अन्य नाम सौरा) दोनों के द्वारा आदिम असभ्य काल के ग्राम्य देवता ही पूजित होते आ रहे हैं। इनके प्रधान देवता हैं 'कामोह दिआ' जो मिट्टी के

बने अण्डे या मादल की तरह दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त दारु मूर्ति (Totem Poles) का प्रचलन भी आदिम जातियों में था, यह विज्ञ लोगों को अज्ञात नहीं है। स्पष्ट रूप से इस कथन का उल्लेख स्कन्दपुराण में भी है। उसमें दिया है, समुद्र तट पर नौका की तरह दिखाई देने वाले एक क्षेत्र (पुरी) में युप की भाँति दिखाई देने वाला एक न्यग्रोधदारु उपासित होता आ रहा था। सम्भवतः वह चतुःशाखा विशिष्ट था।

इस चतुःशाखा की सम्भवतः परवर्तीकाल में पुराणकारों ने 'चतुर्भुज हरि' या 'नीलमाधव' के रूप में वन्दना की है। 'नीलाख्य', 'नीलपर्वत', आदि के प्रयोग से पता चलता है कि मूल नाम 'नील' और उसके बाद 'माधव', पर्वत का संयोग हुआ है। अवश्य यह 'नीलमाधव' किसी गोष्ठी के द्वारा प्रयुक्त शब्द को नीलमणि या काला पत्थर के अर्थ में ग्रहण किया गया है। इसलिए त्रिमूर्ति या चतुर्द्धा मूर्ति के निर्माण से पहले शबरों के द्वारा उपासित देवता को 'नीलमणि विग्रह' कहा गया है। ऐसा नहीं है कि 'चतुर्द्धा मूर्ति' के पूर्व पूजित 'माधव' मूर्ति को 'दारु' प्रतिमा नहीं कहा गया है। इन्द्रद्युम्न द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा के पहले श्वेतराज गाल के द्वारा प्रतिष्ठित 'माधव' मूर्ति 'दारवी' अर्थात् दारुमूर्ति थी, यह स्वयं इन्द्रद्युम्न ने कहा है।

डाक्टर पंडित नीलकंठ दास कहते हैं – It appears that this replacement of the images for the ancient Nilamadhab was not at all one universally accepted even in Orissa. The Sabari Narayan, it has been said, was a pillar with a head made of Neem Wood.

इसके अलावा 'गुण्डिचा' शब्द का तात्विक विश्लेषण करने से भी इसकी यथार्थता का हृदय बोध होता है। यह नहीं लगता कि 'गुण्डिचा' शब्द कोई आर्य या संस्कृत शब्द है। इसके यथार्थ प्रत्यय के बारे में व्याकरणकार मौन हैं। प्रथमतः, 'गुण्डिचा' संभवतः 'गुड़िसा' शब्द की परिणति है। गुड़िसा एक द्राविड़ शब्द है और तेलुगु में इसका अर्थ है कुटीर। जिस समय जगन्नाथ रथयात्रा का आरम्भ हुआ, अर्थात् ईस्वी चौथी सदी में, तब ओड़िशा के आदिम अधिवासियों में द्राविड़ भाषा प्रचलित थी। अतः लगता है कि उस समय जगन्नाथ को मन्दिर से बाहर लाकर रथ पर बिठा कर किसी एक कुटीर या अस्थायी निवास को ले जाया जाता था। कालक्रम में मन्दिर से 'गुड़िसा' तक रथ का जाना और वहाँ रहना विधिबद्ध हो गया और वह 'गुड़िसा' धीरे–धीरे 'गुडिचा' हो गया। परन्तु इस तरह के अनुमान में कोई बलिष्ठ तर्क है, ऐसा नहीं लगता क्योंकि यह 'गुण्डिचा' शब्द द्राविड़ मूल का नहीं है। द्वितीयतः, चौथी सदी में ओड़िशा के आदिवासियों में द्राविड़ भाषा के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं है। तृतीयतः, जगन्नाथ से सम्बन्धित कोई भी शब्द द्राविड़ भाषा से लाया गया है, पता नहीं चलता। और भी, 'गुण्डिचा' का अर्थ अगर कुटीर होता तो 'गुण्डिचाघर', 'गुण्डिचामन्दिर', आदि के प्रयोग नहीं पाए जाते। इसलिए 'गुण्डिचा' को 'गुड़िसा' का अपभ्रंश न कहकर शाबर भाषा में प्रयुक्त 'कुन' और 'डिजा', इन दो शब्दों का संयुग्म कह सकते हैं। शाबर भाषा में 'कुन' का अर्थ है वही और 'डिजा' का अर्थ है वृक्ष का तना। शबरों में वृक्ष के तने की पूजा या दारुपूजा प्राचीन काल से प्रचलित थी, इसमें किसी का कोई मतभेद नहीं है।

जगन्नाथ शबरपूजित मण्डप में वृक्ष के तने के रूप में उपासित होते आ रहे थे, बाद में उन्हें त्रिमूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। इसलिए गुण्डिचा मन्दिर को जगन्नाथ का जन्मस्थान मानते हैं। स्कन्द पुराण में यही बात कही गई है। विशषतः गुण्डिचा में विराजित होते समय सभी पूजा–सेवा का अधिकार दैत्य या शबरों को दिया जाता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जब वे आदिम पीठ 'कुन–डिजा' मन्दिर को आते हैं, तब 'कुन–डिजा' अर्थात् दारु के तने या मादला की सेवा का भार दैत्य या शबरों को सौंपा जाता है। अज्ञात अतीत से यही होता आया है। पुनश्च, 'कुन–डिजा' शब्द लोक मुख में 'गुण्डिचा' के रूप में रूपान्तरित होना भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी असंगत नहीं है। इससे हम निश्चित रूप से अनुमान कर सकते हैं कि प्राचीन अष्ट्रिक शबर का वृक्ष दारु बनकर अन्त में कुन–डिजा, मादला, या युप के रूप में उपासित होता आया, यद्यपि वह पूजा अन्य देवताओं की तरह प्रकाश्य रूप से नहीं होती थी।

यही गोपनीयता ही शबरों की जातीय परम्परा है। दूसरी भाषा में वह है Totemism। अब भी शबर अपने पूजा–स्थल में किसी नवागत को सरलता से नहीं जाने देते। यहाँ तक कि उनके देवता के बारे में किसी बात को बताने से भी कतराते हैं। इसी कारण से लेखक को सौराओं की पल्ली में दीर्घ दो महिने तक रहना पड़ा था और उनके साथ घुलमिल जाना आवश्यक हो गया था। इससे अनुमान होता है कि उनके पूर्वज अपने देवता को किसी और को दिखाने की अनुमति नहीं देते थे। पर उनके विश्वासपात्र होने के बाद हो सकता है कि सब सम्भव हो। देवता को भी क्यों नहीं दिखाएँ? शायद इसी सरल विश्वास का सुयोग लेकर आगंतुक द्राविड़ समुदाय के लिए उनकी परम्परा, संस्कृति और देवता को अपनी धर्मपंथा में कवलित कर लेना आसान हो गया।

फलतः एकत्रावस्थान के द्वारा आदिवासी शबर के दारुदेवता पर जैन द्राविड़ों के क्रम–प्रभाव से प्रभावित हो मूल दारु जिस भाँति जैनधर्मियों का अपना हो गया, उसी प्रकार दारु उपासक शबरों में भी पुरुषोत्तम ने भावप्रसिद्धि पाई। परिणामस्वरूप दारु या मादला पुरुषोत्तम और 'जगन्तनाथ' या 'जगन्नाथ' नाम से दोनों समुदायों में उपास्य बने। सहावस्थान के सूत्र से अमायिक शबर समुदाय के दृष्टिकोण और रीतियों के साथ अपने को मिलाकर उनके आदिम काल से प्रचलित दारुदेवता को जैन द्राविड़ों ने जिस भाँति पुरुषोत्तम बनाया, उसी प्रकार शबर–स्वीकृत दारु उपासना की प्रमुखता की प्रतिष्ठा कर उसे आत्मसात् करें न करें यत्परोनास्ति प्रचेष्टाएँ की। छल से, बल से, कौशल से, उसे अपना कहने के लिए सम्भवतः उसे जैन–धर्म–संकेत के रूप में परिचित कराना शुरू कर दिया, क्योंकि जगन्नाथ की रेखा मूर्ति बद्धमंगल और नंदीपद नामक दो जैन संकेतों का स्पष्ट समन्वय प्रतीत होती है। बद्धमंगल संकेत के ऊपर नंदीपद संकेत को स्थापित कर जिस किंभूतकिमाकर मूर्ति विशेष की रूप–कल्पना हुई, उसका शबर उपासित दारुमूर्ति के साथ पूर्ण सामंजस्य था। क्रमान्वय से चित्रों को देखें।

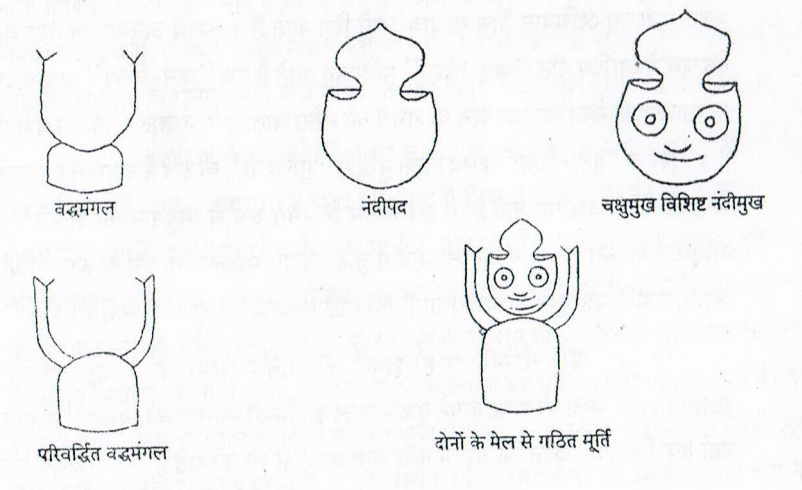

तत्वज्ञों का कहना है कि जैनियों ने ही सबसे पहले मूर्ति पूजा का प्रचलन किया था। Jains have emphasised this importance of Chaitya and Chaityalaya, idol representing the Tirthankaras and the temples for the idols as subject of worship.

इसके पहले शबर समुदाय में दारु, आदि वस्तु उपासना के संकेत पाए जाते हैं, फिर भी मोहन जोदाड़ो काल से लेकर पाण्ड्य–पल्लव राजाओं तक सिद्धों की प्रतिमूर्तियों की पूजा करने की विधि मात्र जैन धर्म में ही है। यह साकार उपासना जैनियों का ही उद्‌भावन है। इस सांकेतिक मूर्ति के दारु को आधार बनाकर निर्मित होने के कारण शबर समुदाय जिस भाँति भक्तिभाजन हुआ, जैन संकेतों के द्वारा कल्पित होने के कारण द्राविड़ों में भी श्रद्धाभाजन हुआ। पर एक और समुदाय में 'जगन्त' या 'जगाबोई' शबरी नारायणः नाम को प्रसिद्धि प्राप्त होते समय दूसरे समुदायों में 'पुरुषोत्तम', 'जगन्नाथ', 'जीनपद' नाम भी शायद प्रसारित होने लगे थे। उस पर जैन तीर्थंकर महावीर के तोषाली आगमन का वृत्तान्त उस अनुमान को और भी दृढ़ीभूत करता है। ईसा पूर्व छठी सदी में 'कलिंग राज करण्ड (करकण्ड) महावीर को कलिंग में आमंत्रित कर लाए थे। वे एक विशुद्ध जैन राजा थे। उन्हीं के आमंत्रण से महावीर वर्धमान के शबर खण्ड में आकर जैन धर्म का प्रचार करने का विवरण जैन हरिवंश पुराण में है। महावीर के प्रचार के फलस्वरूप कलिंग में जैन धर्म की नींव दृढ़ता से स्थापित होने के साथ–साथ अहेतुवादी तथा जड़ उपासक प्राचीन शबर धर्म को अवश्य ही चोट पहुँची होगी। शबर धर्म के किसी भी रूप में प्रचार–प्रसार के लिए कोई प्रयास न होते हुए समांतराल किसी शक्तिशाली धर्म के प्रचार ने शबर विश्वास को धीरे–धीरे कमजोर भी बनाया होगा। अंत में दारुदेवता जैन उपासना के विषय के रूप में गृहीत होने के कारण शबर की मौलिकता भी धीरे–धीरे धूमिल होने लगी। फलतः उपादान के दारु होने पर भी बाह्य रूप जैन 'पुरुषोत्तम' होकर लोक प्रसिद्धि पाने लगा।

इसके फलस्वरूप शबरखण्ड की प्रतिपत्ति दूरदरांत क्षेत्रों में इस तरह व्याप्त हुई कि जाति, धर्म, सम्प्रदाय निर्विशेष से लोग आए और अपना लेने को अनुरागी हुए। अनुमान है कि आर्यों में से जिन्होंने पहले उत्कल भूमि पर

पदार्पण किया, उन्होंने प्राचीन आदिवासी शबरों को अनुगत बनाने के लिए उनके द्वारा स्थापित दारुमूर्ति की उपासना करने लगे। शतपथ ब्राह्मण वर्णित 'अंगि–वैश्वानर' के प्राची दिग्वलय की गाथा में मूलतः यही संकेत निगूढ़ रूप में समाहित है। यह सरस्वती नदी के तट से सदानीरा तक किस प्रकार वैदिक धर्म का प्रसार हुआ, उसी के एक रूप का भास मात्र है। परिणामतः शबर–उपास्य दारुदेवता पर जैन पुरुषोत्तम ने जिस प्रकार अपनी प्रतिपत्ति का विस्तार किया था, उसी प्रकार वैदिक आर्य भी शबर के दारु को अपनाने के साथ–साथ जैन 'पुरुषोत्तम' को भी अपना प्रमाणित करने लगे। उसी से जैन पुरुषोत्तम के साथ वेदवर्णित 'सहस्र–शीर्षा–पुरुष' का अभेद सम्बन्ध कल्पित हुआ। अतः त्रिमूर्ति निर्माण के पश्चात् जब जगन्नाथ की प्राण प्रतिष्ठा हुई, तब वह प्रतिष्ठा वेदोक्त पुरुष सूक्त के मन्त्रों से हुई, यह पुराणों में वर्णित है। उसके बाद अपनाने के लिए जैनियों ने जिस प्रकार मूल 'जगन्त' के साथ स्वधर्म के सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादक 'नाथ' को संयोजित करके दारु को जगन्तनाथ या जगन्नाथ के रूप में अभिहित किया, उसी प्रकार आर्यों ने भी दारु के साथ 'ब्रह्म' को मिलाकर उन्हें दारुब्रह्म के रूप में आख्यायित कर दिया। अतएव जगन्नाथ और दारुब्रह्म शब्द परवर्ती रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में पाए जाने के बाद भी पुराणों में वे शब्द क्वचित प्रयुक्त हुए हैं। पर महाभारत और भगवद्गीता की तरह प्राचीन ग्रन्थों में उन शब्दों के प्रयोग की बहुलता है। तब तक शायद वेदोक्त पुरुष के साथ अब के पुरुषोत्तम की अभेद कल्पना हो चुकी थी। वेद वर्णित पुरुषोत्तम 'अक्षर' पुरुष और नीलाद्रि निलय पुरुषोत्तम 'क्षर' पुरुष के रूप में परिचित हो चुके हैं। 'क्षर' रूप में लोगों में पुरुषोत्तमः 'दारुब्रह्म' के रूप में परिचित होते समय अक्षर या ज्ञानरूपी पुरुषोत्तम तत्व ने अर्न्तजगत में प्रसिद्धि पाई। इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा है – ''अतोऽहं लोके वेद च प्रथितः पुरुषोत्तमः'', इसलिए 'क्षर' पुरुष ही लोक–प्रसिद्ध पुरुषोत्तम हैं। वर्तमान पुरी में अधिष्ठित जगन्नाथ शबर देवता दारुब्रह्म हैं।

समस्त जगत या क्षर पुरुष में अध्यात्म, फिर क्षर और अक्षर से परे भक्त के भगवान, यही एक ही यथार्थ संकेत तथा बात में 'पुरुषोत्तम' है। उसी प्रतीक में मानव विश्व की अवधारणा कर उसे जीवंत रखता है। वही विश्वप्रतीक आज यहाँ ज्ञान की मैत्री और कर्म के साम्य धर्म को एक ही आधार में लेकर ज्ञान–कर्म–भक्ति का महासमन्वय और समाधान 'योग' के यथार्थ विग्रह को लेकर भक्त को संकेत देते हैं। मानव मानव में कोई भेद नहीं। अधिकार भेद में व्यक्ति के कर्तव्य भिन्न होने पर भी विकासपथ पर व्यक्ति मात्र में अध्यात्म प्रकाशित होता है। इस व्यक्ति मात्र के दूसरों के प्रति कर्तव्य–धारा ही विकास का धर्म है। इस कर्तव्य या कर्म धारणा के सुगम पंथा हैं, सर्वत्र मुझे देखना या मुझ में सब देखना। हर क्षेत्र में वे विश्वपुरुष पुरुषोत्तम ही पूर्णरूप से विराजित हैं। फिर ये सारे मुझमें ही हैं। मैं ही उनका आधार हूँ। मेरे ही कारण वे हैं, अन्यथा नहीं। मुझे समझ लेने पर उन्हें अपने आप समझ जाओगे। तो व्यवहार में न ब्राह्मण है, और न चाण्डाल। यही ज्ञान और कर्म के समाधान का प्रतीक है। ..... इसी में फिर ज्ञानकर्म के प्रवाह की 'आपूर्यमाण' और 'अचल प्रतिष्ठा' है। भक्तिसिन्धु में सभी समान और एकाकार हो जाते हैं। इस समान और एकाकार धर्म के विश्वप्रतीक हैं जगन्नाथ। व्यक्ति का ज्ञान मात्र ही जगत् है। यही है जो देखता है। यही ही ज्ञानराज्य की यथार्थ क्रिया और विश्वमय

कर्म में अकर्ता आत्मा समवर्तित है, समवस्थित है। यही ही कर्मों में साम्य बुद्धि और ज्ञान में नित्य स्थिति है। यही ही कामना के त्याग में कर्म त्याग तथा शून्य पुरुषोत्तम है। यही ही यथार्थ भावसुलभ, व्यक्तिलभ्य प्रतीक या देवता जगन्नाथ हैं। यही ही अनन्त विश्व प्रकाश के अनेक में एक और विश्वतत्व के एक में प्रकाशरूप अनेक हैं। ये विश्वमैत्री के प्रतीक हैं, मैत्री देव पुरुषोत्तम। ब्राह्मण्य के उपास्य देव 'जगन्नाथ' दारुदेवता।

इस प्रकार प्राचीन काल से उपासित होते आए अष्ट्रिक शबर के दारु को ब्रह्म के रूप में अपनाकर वैदिक आर्यों ने ऋग्वेद के समय से हृदय में पोषित अभिलाषा को चरितार्थ किया है। फलस्वरूप उसी दिन से दारुदेवता 'दारुब्रह्म' तथा 'पुरुषोत्तम' धर्म के प्रतीक के रूप में उपासित होते आ रहे हैं।

अंत में यही कहा जा सकता है कि अकेले ब्राह्मण्य धर्माचार्य ही नहीं, शाक्त और शैवधर्मी मनीषियों ने भी जगन्नाथ को अपना बताने के लिए कम प्रयास नहीं किया है। अपने–अपने धर्मों के उपास्य देवता के साथ जगन्नाथ की एकत्र प्रतिष्ठा करके उपासना की रीति परिवर्तन करने के भी पर्याप्त प्रयास हुए हैं। कोणार्क मन्दिर में उत्कीर्णित शिवलिंग और महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति के साथ जगन्नाथ मूर्ति के एकत्र समावेश से यह ज्ञात होता है।

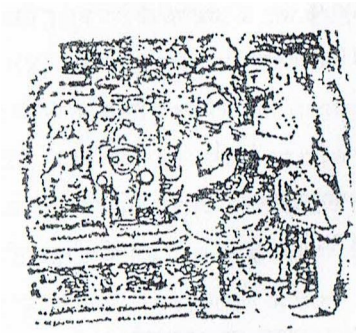

श्री जगन्नाथ (कोणार्क)

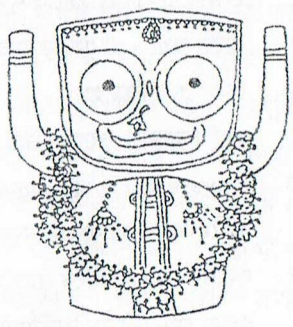

श्री जगन्नाथ

शायद जैन और ब्राह्मण धर्मियों की तरह शिव और शक्ति–तन्त्रवादियों ने भी दारुदेवता को अपना कहने के लिए इस प्रकार के साहसिक उद्योग का प्रारम्भ किया है, जबकि वह सफल नहीं हो पाए। इसके द्वारा तंत्रवादियों में जिस परिमाण में निष्क्रियता और तेजहीनता का पता चलता है, उसी परिमाण में दूसरे दो धर्मों की फलवत्ता और प्रभावशीलता भी जानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में से ब्राह्मण्य धर्म का प्रभाव अधिकतर होने के कारण दारुदेवता पर जैन धर्म के पुरुषोत्तमत्व, कैवल्य, आदि संकेतों के दृष्ट होने पर भी उन सब की आत्मा ब्राह्मण्य धर्म में इस प्रकार लीन हो गई है, जिससे उसे दूसरे धर्म का कहना भी दुःसाध्य ही है।

परिशिष्ट

भिन्न–भिन्न मूर्तितत्व

श्री जगन्नाथ के बारे में और जिन समस्याओं के समाधान शेष हैं, उनमें से अलग–अलग मूर्तितत्व, रथयात्रा की क्रमिक परम्परा और मन्दिर निर्माण की ऐतिहासिकता प्रमुख है। ये सब गवेषणा के एक–एक अलग प्रसंग हैं। उनमें से त्रिमूर्ति निर्माण के बारे में ही विद्वानों की कुछ प्रसिद्ध धारणाओं का उल्लेख कर इस निबन्ध का उपसंहार करूँगा।

संस्कृत पुराणों से लेकर समकालीन विचारकों तक में श्री मन्दिर मध्यस्थ मूर्तियों के निर्माण के बारे में जो धारणाएँ हैं, उन्हें मोटे तौर पर चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। वह हैं पौराणिक, आध्यात्मिक, किवदंतीपरक, तथा ऐतिहासिक। पहले मैं पौराणिक धारणाओं की अवतारणा करता हूँ।

जिन पुराणों में जगन्नाथ की मूर्ति के निर्माण के बारे में विचार प्रस्तुत हुए हैं, उनमें से ब्रह्म पुराण, स्कन्द पुराण, नारद पुराण, कपिल संहिता, नीलाद्रि महोदय, आदि प्रमुख हैं। इनमें मात्र स्कन्द पुराण के अनुसार ठाकुरों की पूजादि 'बड़ देउळ' में होती आ रही है। इसके अतिरिक्त ओड़िआ पुराणों में भी जगन्नाथ के त्रिमूर्ति तत्व के बारे में अलग–अलग मत पाए जाते हैं। उस विषय पर बाद में चर्चा करेंगे। देखें इस सम्बन्ध में क्या है? सबसे पहले स्कन्द पुराण को ही लें।

जब अवन्तिराज इन्द्रद्युम्न ने दल–बल सहित नारदजी को साथ लेकर नीलमाधव के दर्शन हेतु उत्कल भूमि में पदार्पण किया, तब पहले पूजित नीलमाधव अन्तर्हित हो गए थे। इसलिए राजा ने नारदजी के सुझाव के अनुसार वहाँ अश्वमेघ यज्ञ आरम्भ किया। यज्ञ की अन्तिम रात उन्होंने सपने में देखा कि एक चार शाख वाला महादारु समुद्र में तैरता हुआ आएगा। उसे लाकर मूर्ति बनाकर उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी। वही हुआ। स्वयं नीलमाधव ने बूढ़े बढ़ई के रूप में आकर महावेदी को चारों ओर से बन्द करके मूर्ति का निर्माण किया। पन्द्रहवें दिन के अन्त में आवरण खोले जाने पर देखा गया कि बलभद्र–सुभद्रा–जगन्नाथ–सुदर्शन, इस प्रकार चार मूर्तियाँ वहाँ विराजमान हैं। मूर्तियाँ सुन्दर, सुगठित और सम्पूर्ण हैं। उसके बाद राजा इन्द्रद्युम्न ने मन्दिर का निर्माण करवाया और ब्रह्माजी को आमन्त्रित कर उसकी प्रतिष्ठा करवाई।

ब्रह्म पुराण में यद्यपि अनुरूप वर्णन हुए हैं, किन्तु चतुर्धा मूर्ति के निर्माण की बात नहीं है। उसमें केवल तीन ही मूर्तियों के, यानी कि बलभद्र–सुभद्रा–जगन्नाथ की मूर्तियों के निर्माण के बारे में उल्लेख है। और भी लिखा है कि महाद्रुम को देखकर विष्णु और विश्वकर्मा ब्राह्मणों के वेश में वहाँ दिखाई दिए और उन्हीं के द्वारा मूर्तियों का निर्माण हुआ। विन्ध्य पर्वत से शिला लाकर प्रासाद का निर्माण कराया। मूर्ति गठन के बारे में नारद पुराण और ब्रह्म पुराण में कोई भेद नहीं, केवल प्रासाद निर्माण के समय अवन्तिराज इन्द्रद्युम्न द्वारा कलिंग, उत्कल, और कोशल के राजाओं से सहायता लेने वाली बात नहीं है, बाकी सब समान है।

संस्कृत के पुराणों में उल्लिखित दो धारणाओं के अतिरिक्त और उसके वर्णन के अतिरिक्त और कोई मौलिक

मतभेद नहीं देखा जाता। मूर्ति गठन की प्रक्रिया में इन्द्रद्युम्न के कर्तृत्व को सभी स्वीकार करते हैं, बस यही कि मूर्तियाँ तीन थीं या चार। ब्रह्म पुराण कहता है तीन और स्कन्द पुराण कहता है चार।

यह भी विचारणीय है कि स्कन्द पुराण में त्रिमूर्तियों के जो वर्णन हैं उसमें जगन्नाथ और बलभद्र दोनों चतुर्भुज हैं। दोनों शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण कर विराजित हुए हैं। इस पुराण में सुभद्रा को 'लक्ष्मी' रुपिणी कहा गया है। उनके भी एक हाथ में पद्म है और दूसरा हाथ अभय मुद्रा में है। पर ब्रह्म पुराण में बलभद्र और जगन्नाथ चतुर्भुज नहीं हैं। उनकी दो–दो भुजाओं का वर्णन है। शुभ्रवर्ण बलभद्र एक हाथ में गदा और दूसरे में मूशल धारण किए और अतसी कुसुम वर्ण के जगन्नाथ के एक हाथ में चक्र है और दूसरे हाथ के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। उसी प्रकार सुभद्रा भी 'स्वर्णवर्णा' हैं, 'पीनोन्नतकुचा' और 'हारकेयूरभूषिता' हैं। यह वर्णन अनेकांशों में भुवनेश्वर के बिन्दुसागर तटवर्ती अनंत वासुदेव मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियों की तरह है, पर कोणार्क मन्दिर में या महिषमर्दिनी तथा शिवलिंग के साथ खोदित जगन्नाथ मूर्ति के साथ इसका कोई सादृश्य नहीं है। स्कन्द पुराण में जगन्नाथ शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी हैं, परन्तु उनके चतुर्भुज रूप में वर्णित होते समय कोणार्क में खोदित मूर्ति द्विभुज है। यह भी नहीं कि ब्रह्म पुराण वर्णित द्विभुज जगन्नाथ के साथ उनका कोई सादृश्य है। ब्रह्म पुराण वर्णित जगन्नाथ के भुज सम्पूर्ण और धारणक्षम हैं, परन्तु कोणार्क के जगन्नाथ की दोनों बाहें असम्पूर्ण हैं तथा सामने की ओर प्रसारित हुए हैं। इसलिए पुराण वर्णित जगन्नाथ से कोणार्क–खोदित जगन्नाथ सम्पूर्ण रूप से भिन्न हैं। विशेषतः वे वहाँ स–सहोदर नहीं हैं, अकेले हैं। इसलिए लगता है कि अष्ट्रिक शबर की दारुमूर्ति के अनुसरण से खोदित यही जगन्नाथ की मूल मूर्ति है। बाद में वैष्णव धर्म के प्रभाव से उन्हें चतुर्भुज बनाकर अन्य दो मूर्तियों के साथ एकत्र पूजा का उपक्रम हुआ है। सम्भवतः स्कन्द पुराण के समय एतादृश चतुर्भुज मूर्ति ही श्री मन्दिर में प्रतिष्ठित थी और कब उस मूर्ति के स्थान पर अर्द्धबाहु विशिष्ट अब की तीनों मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुईं, सही ज्ञात नहीं है। लगता है कि शारला दास के समय अब की भाँति मूर्तियाँ श्री मन्दिर में उपासित होती थीं; उनके महाभारत से यह ज्ञात होता है। अतएव यह कब और किस के द्वारा संगठित हुआ था और किस स्थिति में इस प्रकार आकृति में बार–बार परिवर्तन होता रहा, यह अभी तक शोध का विषय है।

महाकवि शारला दास ने अपनी महाभारत में मूर्ति गठन का जो वर्णन किया है, उस पर चर्चा करें। शारला महाभारत के मूषली पर्व में दिया है – पुराकाल में धउली पर्वत के एक अगुर वृक्ष के नीचे शबर शबरी–नारायण की पूजा करते थे। एक दिन कांची नगरी के राजा गालमाधव कृष्ण के अदग्ध पिण्ड को ढूँढ़ते हुए आए और शबरपल्ली में उनके नारायण के रुप में पूजित होने का समाचार पाकर वहाँ पहुँचे। परन्तु वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि वहाँ प्रतिमा नहीं थी। शबरों ने उन्हें छिपा दिया है, ऐसा सोचकर उन्होंने शबरों की हत्या कर दी। यह देखकर नारायण ने गालमाधव को अभिशाप दिया और कहा कि उसके वंश में कोई बचा नहीं रह पाएगा। तब 'जारा' शबर गाँव में नहीं था। कृष्ण के पिण्ड की खोज में वह समुद्र तट पर कोणार्क के पास रहता था। विराटवंशी राजा मधुकेशर के पुत्र इन्द्रद्युम्न ने, नीलगिरि पर भगवान अवस्थान करेंगे, यह जानकर विश्वावसु नामक ब्राह्मण के द्वारा वहाँ एक मन्दिर बनवाया। उसके बाद भगवान ने

जारा को सपने में आदेश दिया कि वे बौद्ध के रूप में नीलगिरि पर अवस्थान करेंगे। रोहिणी कुण्ड में काया पलट कर बौद्ध अवतार की काया प्रकटित करेंगे। कुछ दिनों के बाद भगवान रोहिणी कुण्ड में दारु के रूप में अवतीर्ण हुए। वासुविप्र और जारा दोनों के द्वारा दारु ऊपर लाए गए। स्वयं विश्वकर्मा जारा शबर के साथ मूर्ति निर्माण के कार्य में लग गए। उन्हीं के निर्देश से सभी द्वार बंद कर दिए गए और मूर्ति गठन का कार्य पूरा न होने तक द्वार न खोलने का आदेश दिया गया। पन्द्रह दिनों तक कुछ भी शब्द सुनाई न देने पर संदेह कर राजा ने द्वार खुलवाया तो सिंहासन पर जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा के अपूर्ण विग्रहत्रय दिखाई दिए। उसी दिन से उन्हीं तीनों मूर्तियों की पूजा श्री मन्दिर में होने लगी। उनमें से जगन्नाथ हैं विष्णु, बलभद्र रुद्र और सुभद्रा ब्रह्मा।

इसी महाभारत से ज्ञात होता है कि भगवान शबरी–नारायण पहले शबरों के द्वारा धउलि पर्वत पर पूजित होते थे। कांची राजा गालमाधव ने उन्हें ले जाकर नीलगिरि पर स्थापित किया। इसमें नीलमाधव के पहले शबरी–नारायण का पूजित होना, कृष्ण के अदग्ध पिण्ड का दारुब्रह्म के रूप में रोहिणी कुण्ड में प्रकटित होना और भगवान का बौद्ध अवतार ग्रहण करके नीलगिरि में पूजित होना, आदि कुछ नई बातों की अवतारणा है। यह वर्णन संस्कृत पुराणों में नहीं है। ये सब शारला की मौलिक कल्पना है या उस समय प्रचलित किंवदन्तियों के आधार पर लिखा गया है, कहना कठिन है। शारला की अधिकांश रचनाओं में कल्पना के विशेष समावेश की दृष्टि से इसे भी उनकी काव्य–कल्पना का एक और वैभव माना जा सकता है। चाहे जो भी हो, दारुदेवता की त्रिमूर्ति के अतिरिक्त उन्होंने चतुर्धा मूर्ति के तत्व को स्वीकारा नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है।

शारला दास के परवर्ती कवि नीलांबर दास की पन्द्रहवीं सदी की रचना 'देउलतोला' के जगन्नाथ की मूर्ति निर्माण के बारे में इस प्रकार वर्णन है – मालव देश के राजा इन्द्रद्युम्न से नारदजी ने कहा कि पूर्व सागर के तट पर नीलमाधव शबरों के द्वारा उपासित होते आ रहे हैं। इस बात का पता लगाने के लिए राजा इन्द्रद्युम्न ने अपने मंत्री विद्यापति को भेजा। वहाँ पहुँचकर विद्यापति ने पता लगाया कि विश्वावसु नाम का एक शबर नीलमाधव को जंगल में कहीं छिपाकर उनकी पूजा कर रहा है। विद्यापति चालाकी से विश्वावसु के अतिथि बने और उसी की बेटी के माध्यम से नीलमाधव का दर्शन किया, साथ ही वहाँ तक पहुँचने के लिए रास्ते की जानकारी उसी से ली। उसके बाद चलकर उन्होंने वही जानकारी राजा को दी। तब इन्द्रद्युम्न विराट सैन्यवाहिनी लेकर ओड़िशा आए। कटक जिले के बांकी के पास चर्चिका में इन्द्रद्युम्न और विश्वावसु की भेंट हुई और अन्त में दोनों मित्र बने। पर इस बीच नीलमाधव अन्तर्ध्यान हो गए। यह सुनकर इन्द्रद्युम्न ने इक्कीस दिनों तक उपवास किया। एक दिन उन्हें स्वप्नादेश मिला कि नीलमाधव दारु के रूप में समुद्र में तैर रहे हैं, उन्हें वहाँ से लाकर मूर्ति बनाएँ और उनकी स्थापना करें। स्वयं विश्वकर्मा आए और बन्द कमरे के अन्दर मूर्ति का निर्माण करने को कहा तथा यह भी कहा कि जब तक निर्माण कार्य पूरा नहीं हो जाता, तब तक कोई भी द्वार को खोले नहीं। इसी के अनुसार इन्द्रद्युम्न ने सम्पूर्ण व्यवस्था कर दी। पर निर्दिष्ट समय से पहले रानी के अत्यधिक आग्रह के कारण और उतावली होने के कारण राजा ने द्वार खुलवाया और अर्द्धनिर्मित तीन मूर्तियों को देखा। वही मूर्तियाँ

ही बलभद्र–सुभद्रा–जगन्नाथ हैं।

अठारहवीं सदी में कवि शिशुकृष्ण दास द्वारा इसी 'देउलतोला' नाम से लिखित एक ताड़पत्र पोथी भी है। उसमें विश्वावसु शबर की बेटी है ललिता। विद्यापति जब नीलमाधव के दर्शन के लिए गए, तब आँचल में तिल बाँध कर लेना, शबर के घर ललिता के गर्भ से जन्मे पुत्रों को वंश परम्परा के क्रम से दइता–सेवक और शुद्ध सुआर बनाना तथा जगन्नाथ के सम्मुख इन्द्रद्युम्न द्वारा वर की याचना करना, आदि इस प्रकार से है –

''रात्र अर्धमान तो कबाट पड़िथिब

रात्र पाँच घड़ी थाऊँ कबाट फिटिब

सबु होई तिनि घड़ी शयन करिब

खाउ भुंजुँ जगन्नाथ हात न शुखिब

दिनक जाकर भोग भुंजुथिब रहि

एहि बर देब मोते त्रैलोक्य गोसाईं।''

अर्थात् – आधी रात को आपके किवाड़ बन्द होंगे और रात की पाँच घड़ियों के रहते खुला करेंगे। आप तीन ही घड़ियों के लिए शयन करेंगे। हे जगन्नाथ जी, भोजन करते आपके हाथ सूख नहीं पाएँगे। और रह–रह कर नैवेद्य के भोजन करते रहें। त्रिलोक के स्वामी, आप मुझे यही वरदान दें।

और भी –

''तुमे येबे वर देब मागु अछि मुंहि

मोहर वंशरे केहि न थिबे गोसाईं।

ठाकुरे बोइले एहा मागु काहिं पाई

तोते धेनि युग राज करुथिबि मुंहि।

इन्द्रद्युम्न बोले मोर तेबे कार्य नाहिं

सबु दिने कीरति संसारे थिब रहि।

पुत्र नाति बोलिबे ये देउल आम्भर

आम्भर बोइले धर्म यिब ये आम्भर।''

अर्थात् – आप यदि वर देंगे तो मैं यही माँगूगा कि मेरे वंश में कोई नहीं रहे। ठाकुर जी ने पूछा – वह किस लिए? मैं तो तुम्हें लेकर युगों तक राज करूँगा। तो इन्द्रद्युम्न ने कहा, उस में मेरा क्या काम? सदा के लिए यह कीर्ति रहेगी और बेटे कहेंगे – यह देवल हमारा है। और हमारा कहें तो सारा धर्म नाश हो जाएगा।

आदि कुछेक शुद्ध ओड़िशा संस्कृति और ऐतिह्योद्योतक वर्णन को छोड़कर शेष सब लगभग समान है। नीलाम्बर दास की तरह बाद की पंचशाखाओं में से एक वैष्णव कवि यशोवंत दास की रचना 'प्रेमभक्ति ब्रह्मगीता' में जगन्नाथ के

मूर्तितत्व के बारे में एक आध्यात्मिक धारणा लिपिबद्ध है। उनका कहना है – नीलांचल की रत्नवेदी पर जो मूर्तियाँ विराजित हैं, वे हैं ऊँकाररूपी ''ह्रीं श्लीं क्लीं।'' ह्रीं हैं बलभद्र या रुद्र, श्लीं हैं सुभद्रा, क्लीं हैं जगन्नाथ या विष्णु। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल उस आसन के मंच रूप हैं। इनके अतिरिक्त सुदर्शन को यहाँ ''महाशून्य ब्रह्मज्योति'' के रूप में ग्रहण किया गया है। मात्र इतना ही नहीं, ये चारों 'मूर्तियाँ' 'ह–रे–कृ–ष्ण' महामन्त्र की रूपान्तर हैं। और सुभद्रा 'राधा' का गुप्तरूप हैं, ऐसा भी कहा गया है। इस प्रकार की बहुविध आध्यात्मिक कल्पना वैष्णव ग्रन्थों में अनेकत्र पाई जाती है। जो भी हो, इसमें त्रिमूर्ति या चतुर्धा मूर्ति पर आध्यात्मिक वर्णारोप के अतिरिक्त उनकी उत्पत्ति के बारे में कोई नई बात प्रकाशित नहीं होती है, इसलिए इसे भक्त के विश्वास के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

यशोवंत दास के समकालीन भक्तकवि जगन्नाथ दास ने अपनी 'दारुब्रह्मगीता' में जगन्नाथ के मूर्तितत्व के बारे में निम्नोक्त आख्यायिका की अवतारणा की है।

शबर के शराघात से कृष्ण के देह त्याग का समाचार पाकर पाँचों पाण्डवों ने उनका पिण्ड दाह करने का निश्चय किया। सहदेव के निर्देश के अनुसार देहत्याग के स्थल से चार सौ कोस की दूरी पर स्थित नीलगिरि समीपस्थ स्वर्गद्वार में पिण्ड दाह के लिए स्थान निश्चित किया गया। चन्दन काठ से एक खटिया बनाई गई। उस पर कृष्ण को लिटाकर उसे लेकर पाँचों पाण्डव भाई नीलगिरि पहुँचे। उसके बाद नीलसुन्दर वन से चन्दन की लकड़ी लाकर उस पर कृष्ण के शरीर को लिटाकर उन्होंने अग्नि संयोग किया। परन्तु पिण्ड दग्धिभूत क्या होता, उसका एक रोम तक नहीं जला। इस प्रकार पाँच दिन और पाँच रातें बीत गईं। मात्र हस्त और पैर बिना और कुछ नहीं जला, तब शून्यवाणी सुनाई पड़ी – ''श्रीकृष्ण का पिण्ड अग्नि से दग्ध नहीं होगा, उसे समुद्र में बहाकर वापस चले जाओ।'' उसके पश्चात् पाण्डवों ने समुद्र से जल लाकर अग्नि को शीतल कर पिण्ड को समुद्र में बहा दिया। कुछ दिनों के बाद पिण्ड आकर किनारे लगा। एक दिन वसु नामक एक शबर आखेट करते हुए आकर बांकी मुहांण नामक स्थान पर पिण्ड को देखकर ले आया और रोहिणी कुण्ड के समीप वटवृक्ष के नीचे रखा। उसी दिन से कंदमूलादि नैवेद्य से पूजा करता रहा। एक दिन चन्द्रवंशी राजा इन्द्रद्युम्न ने विष्णु की खोज में ब्राह्मणों को चारों ओर भेजा। पूर्व दिशा की ओर आए ब्राह्मण ने शबर के द्वारा वट वृक्ष के नीचे की जा रही पूजा के बारे में जानकर राजा को समाचार दिया, परन्तु राजा के वहाँ पहुँचने पर मूर्ति नहीं थी। अतः उनके दुःखी मन से रहते समय उन्हें स्वप्नादेश हुआ, ''बांकी मुहांण में एक दारु तैरते हुए पाओगे। उसे लाकर मूर्ति बनवाओ और प्रासाद में उनकी प्रतिष्ठा करो।'' राजा उसे ले आए और प्रासाद के अन्दर रखवाया। सोलह दिन के बाद देखा कि वहाँ पर चतुर्धा मूर्ति के रूप में जगन्नाथ विराजमान हैं।

इस प्रसंग में पाण्डवों द्वारा आकर कृष्ण पिण्ड का दहन करना, उसे चन्दन की लकड़ी से बनी खाट पर लिटाकर उठाए हुए वहाँ तक लाना, कृष्ण के पिण्ड को पुरुषोत्तमस्थ स्वर्गद्वार में लाकर दाह करना, आदि कुछ बातों के अतिरिक्त शेष सभी स्कन्द पुराण के अनुरूप है। स्कन्द पुराण के समान यहाँ भी त्रिमूर्ति के बदले चतुर्धा मूर्ति कहा गया है। पर वे मूर्तियाँ किस मनुष्य के द्वारा बनाई गईं, इसका वर्णन नहीं है। स्वयं जगन्नाथ ही सोलह दिन के बाद चतुर्धा

मूर्ति के रूप में सिंहासन पर प्रकट हुए। इसमें जो भी नई बात है और जो भी अधिक है, वह हो सकता है कि भक्त कवि की दिव्य कल्पना हो या उस समय की प्रचलित किंवदन्ती के आधार पर लिखा गया हो।

उसके पश्चात् प्रेमभक्ति के उपासक कवि दिवाकर दास के अपने ग्रन्थ 'जगन्नाथ चरितामृत' में श्री जगन्नाथ की चतुर्धा मूर्तियों को स्वीकारने के साथ–साथ उसके बारे में चर्चा भी की है। उन्होंने लिखा है –

''श्री बलभद्र सुभद्रेण। जगन्नाथ ये सुदर्शन।।

ये क्षेत्रे चतुर्धा मूरति। प्रकाश होइण अछंति।।''

फिर ....

''श्री बीज बलभद्र होंति। ह्रीं बीज सुभद्रा मूरति।।

क्लीं बीज जगन्नाथ भव।''

इस महात्मा ने जगन्नाथ को सभी अवतारों के मूल कारण और पुरुषोत्तम क्षेत्र अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, काशी, आदि सभी क्षेत्रों से श्रेष्ठ कहा है। इसके बाद भी प्रेमभक्ति की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए अन्त में जगन्नाथ और कृष्ण को एक और अभिन्न प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। फिर भी उन्होंने श्रीकृष्ण को व्याप्य और जगन्नाथ को व्यापक के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु यहाँ एक और बात विचारणीय है। यशोवंत दास ने भी अपनी 'प्रेमभक्ति ब्रह्मगीता' में श्रीकृष्ण और जगन्नाथ की अभेद कल्पना की है और त्रिमूर्ति को त्रिबीजाक्षर–स्वरूप के रूप में स्वीकार किया है। बीजाक्षर हैं – ह्रीं–श्लीं–क्लीं', परन्तु उनके बलभद्र को 'ह्रीं' बताते समय दिवाकर दास ने उन्हें 'श्लीं' स्वरूप बताया है। एतादृश मतभेद में क्या रहस्य है, वह भी विचारणीय है।

इसके अतिरिक्त Mysticism in the Temple of Jagannath of Puri नामक एक शोध समीक्षा ग्रन्थ में श्री जगन्नाथ के त्रिमूर्ति तत्व के बारे में विस्तृत चर्चा हुई है। उसमें लेखक ने दार्शनिक चिन्तन को मूल आधार बनाया है और त्रिमूर्ति के उद्देश्य के बारे में कहा है – जगन्नाथ के त्रिमूर्ति तत्व में सृष्टि तत्व के अतिरिक्त और कुछ है, ऐसा नहीं लगता। ये तीनों हैं – प्रधान–पुरुष–काल। जब प्रधान और पुरुष काल के द्वारा एकत्र होते हैं, तब सत्व–रज–तम युक्त होकर 'महत' बन जाता है। तब प्रधान बीजोपरिस्थ आवरण की भाँति महत को आवृत्त कर लेता है। फलस्वरूप महत वैकारिक, तेजस और भूतादि तम के साथ अहंकार को उत्पन्न करते हैं। उसके बाद वैकारिक भाव से मन, तेजस भाव से दस इन्द्रियाँ और भूतादि तमोभाग से पंचतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भौतिक सृष्टि का प्रारम्भ होता है। पहले सृष्टि जो आकार धारण किए होती है और स्वयम् ब्रह्मा जिस पर आसन जमाए बैठे हुए होते हैं, उसकी आकृति अण्डे के समान है। उसी से मूर्तियों की आकृति डिम्बाकृति है। उन्होंने और भी लिखा है – If we divide the Egg breadthwise into three, we will get two semiovals on two extremities and an oval in the middle. The Trinity are the first manifestations of existence and each of the Trio represents an

active principle. The Mundane egg is a shape we can envisage but not an actual existence Pradhan (Otherwise known as Prakriti). Purusa and Kala are the Trio and are the first to exist ... One is therefore, led to think that the Trio, Jagannath, Balaram and Subhadra are the mystic representation of these three fundamental aspects of Vishnu.

इस पर विचार करें तो यह भी मूर्तित्व की आध्यात्मिक भावना ही है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

इस प्रसंग में एक प्रकार से आक्षरिक सा मतवाद भी हिन्दुओं में प्रचलित है। युगों से हिन्दुओं में यंत्रपूजा घनिष्ठ रूप से प्रचलित है। इसी को ही आधार बनाकर महामहोपाध्याय पण्डित सदाशिव सार्वभौम महाशय ने जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा, ये तीनों मूर्तियाँ प्रणव सम्बन्धी अ–उ–म : ऊँ : अक्षरज्ञापक चिह्न हैं, बतलाया है। इतिहास लेखक स्टर्लिंग का कहना है कि पीटरसन नाम के एक अंग्रेज विद्वान इस मतवाद के प्रचारक थे। बौद्ध त्रिरत्नवादियों की तरह इसमें अवश्य आकृतिगत सामंजस्य को प्रमुखता नहीं दी गई है, परन्तु जो भी हो, इसी मत के द्वारा त्रिमूर्ति तत्व को स्वीकारने के साथ–साथ इस पर एक आध्यात्मिक धारणा के आरोप के अतिरिक्त और कोई नूतनता नहीं है।

इसके अलावा प्राचीन पण्डितों से एक उद्‌भट्ट संस्कृत श्लोक सुनने को मिलता है। यह श्लोक किस ग्रन्थ में है, मुझे इसकी जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। उनसे पूछने पर भी कोई सही जानकारी प्राप्त नहीं होती। अनन्त काल स्रोत से अहोरात्र विभाग को उपादान बनाकर उसमें जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा और सुदर्शन रूपी चतुर्धा मूर्तियों को आरोपित किया गया है। वह श्लोक है –

कृष्णा कृष्णो जगन्नाथः घस्रः शुभ्रो बलांतकः

सायं सुभद्रा हरिद्रा कालचक्रः सुदर्शनः

अर्थात् – कृष्णवर्ण के जगन्नाथ रात्रि, शुभ्रवर्ण के बलभद्र दिवाकाल, हरिद्रावर्ण की सुभद्रा संन्ध्या और सुदर्शन कालचक्र के प्रतीक हैं। इस मत के अनुसार सुदर्शन को, लगता है कि कुछ अधिक प्रमुखता दी गई है। सम्भवतः 'अहिर्वुध्न संहिता' में प्रतिपादित सुदर्शन के आधिक्य प्रख्यापन के लिए किसी एक तांत्रिक ने इस जैसे श्लोक की कल्पना कर प्रचारित किया है। जो भी हो, इस मत के अनुसार त्रिमूर्ति के बदले चतुर्धा मूर्ति को स्वीकार करने के अलावा और अधिक कुछ नहीं है। विशेषतः श्लोक के मूल के बारे में कोई सही सूत्र न होने के कारण उस पर गुरुत्वारोपण भी समीचीन नहीं लगता।

अब स्थिति और पुरोदृष्टि के विचार से ऐतिहासिक भित्तिभूमि पर जगन्नाथ के मूर्तितत्व के बारे में कैसी चर्चाएँ हुई हैं, विचारणीय है। उनमें से बौद्ध त्रिरत्न से त्रिमूर्ति उपासना का सूत्रपात हुआ है, कहने वालों की संख्या अधिक है। पाश्चात्य आलोचक कनिंघम्, बंगाली इतिहासविद स्वर्गीय राजा राजेन्द्रलाल मित्र, ओड़िशा इतिहास के प्रणेता स्वर्गीय

डाक्टर हरेकृष्ण महताब, आदि इसी मत के पृष्ठपोषक के रूप में परिचित हैं।

प्रत्नतत्वविद अलेक्जेंडर कनिंघम् (Alexander Cunningham) ने अपनी प्रसिद्ध कृति भिलसा टॉपस् (Bhilsa Topes) और बरहुत स्तूप (The Stupa of Bharhut) में सबसे पहले यही कहा है। उनके बाद श्रीयुत कालीप्रसन्न बन्द्योपाध्याय ने इसी मत के समर्थन में कहा – ''सम्राट अशोक के समय जगन्नाथ की उपासना भगवान बुद्ध के रूप में होती थी, यह मादलापांजि में उल्लखित है।'' उसके बाद चौथी सदी में बुद्धदेव ने भगवान के दशावतारों में नवम् अवतार के रूप में प्रसिद्धि पाई। राजा राजेन्द्रलाल मित्र का कहना है – ''परवर्ती काल में ओड़िआ और बंगाली कवियों की रचनाओं में जगन्नाथ को बुद्ध के रूप में स्वीकारती सी कविताएँ पाई जाती हैं।'' स्टर्लिंग का कहना है कि सोलहवीं सदी तक ओड़िशा में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। उस समय के उत्कलीय राजा प्रतापरुद्र देव ने पहले बौद्ध धर्म की सहायता की थी, परन्तु बाद में उसका विरोध किया। सर जे. बी. उड्रफ ने मन्दिर के किसी अध्यक्ष से पता लगाया था कि मन्दिर के किसी अंश में बुद्ध की प्रतिमा उत्कीर्णित थी, पर बाद में उसे ढक दिया गया है। अतः वे कहते हैं कि एक दिन मन्दिर में बुद्ध का बोलबाला था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री महाशय ने भी विष्णुपुर से मिले गोलाकार तास के बारे में विवरण देते हुए कहा है कि इन्हीं तास के पत्तों पर जगन्नाथरूपी बुद्धदेव ने मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह अवतार के पश्चात् पांचवाँ स्थान पाया है। द्वादश शताब्दी के जयदेव और एकादश शताब्दी में क्षेमेन्द्र के समय बनी दशावतार की सूची के पहले ये तास बने थे। वे और भी कहते हैं ''एकादश शताब्दी के पहले जगन्नाथ और बुद्धदेव एक और अभिन्न नहीं माने गए होते तो ऐसे तास बनते ही नहीं।'' इसी प्रकार अलग–अलग विचार आलोचना के द्वारा वे अपने सिद्धान्त देते हैं – जगन्नाथ बुद्धदेव के रूपान्तर हैं। त्रिमूर्ति उपासना बुद्धधर्म सम्बन्धी त्रिरत्न उपासना से ही आहरित हुई है। वे इसके बारे में एक क्रमिक परिणाम की धारा भी उपस्थापित करते हैं।

इसके अतिरिक्त Antiquities of Orissa नामक ग्रन्थ में राजा राजेन्द्रलाल मित्र ने लिखा है, श्री गुरुदास सरकार महोदय ने अपनी मन्दिरेर कथा में उसका भावानुवाद ही किया है। उसमें लिखा हुआ है – ''ब्राह्मी लिपि में य, र, ल, व, न, ये पाँच वर्ण बौद्ध साधकों के विचार से क्रमशः मरुत, तेज, अग्नि, अप, जल, क्षिति और व्योम; इन्हीं पंचभूतों के बीज जड़ प्रकृति के सांकेतिक चिह्नस्वरूप हैं। ये पंचाक्षर मिलकर बाद में त्रिशूलाकृति धारण करते हैं। जड़ प्रकृति के साथ बुद्ध के मिलन से संघ की उत्पत्ति और धर्म, बुद्ध, संघ को लेकर बौद्ध धर्म का त्रित्ववाद या 'त्रिनीति' बनी है। धर्म के विशिष्ठ सुदर्शन चक्र के साथ यह त्रिशूलाकृति चिह्न होकर क्रमशः त्रित्ववाद के संकेत के रूप में व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार तीनों चिह्न एक ही पंक्ति में सजाए हुए उपासित होते आए थे।

अशोक के समय ओडिशा में शबर बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। पुरी में बौद्ध स्तूप का निर्माण हुआ था और उस पर बौद्ध त्रिरत्न स्वाभाविक रूप से अंकित हुए थे। वह स्तूप शबरों का श्रेष्ठ पूजापीठ था। ईसा पूर्व पहली सदी में जब महायान पंथ का प्रवर्तन हुआ और बुद्ध तथा बोधिसत्वों की पूजा का आरम्भ हुआ, तब सरल प्राण शबरों ने स्तूप के

त्रिरत्न चिह्नों की पूजा की। इन सारे चिह्नों को अर्थात् चिह्नत्रय को 'जगन्नाथ' कहा जाता था। कुछ काल के पश्चात् जब मूर्ति पूजा का आरम्भ हुआ, तब इन तीनों चिह्नों को लकड़ी में बनाकर लोगों ने पूजा की और मूर्तियों को मनुष्याकृति देने के लिए स्वाभाविक इच्छा से परिपूर्ण होने के लिए आँख, नाक दिखाने के लिए यथासम्भव चित्रों की व्यवस्था की। मूर्ति जब तीन हुईं, तब जगन्नाथ (बुद्ध) धर्म और संघ का आरोप भी स्वाभाविक गति से हुआ और ये मूर्तित्रय बनीं। बौद्ध धर्म में नारी धर्मनारी के रूप में परिकल्पित होती है और संघ में भाई–बहन का सम्बन्ध बौद्ध धर्म का कठोर नियमांतर्गत है। अतः शबर ने सरल विश्वास से तीन मूर्तियों में से दो को भाई और एक को बहन माना। इन तीनों में मुख्य हैं जगन्नाथ। उनकी पूजा को तब तक तीन सौ वर्षों की प्रसिद्धि मिल चुकी थी। .... अतः इसे बौद्ध धर्म का अवशेष, ऐसा निःसन्देह कहा जा सकता है।

इस मत के अनुसार जगन्नाथ को बुद्ध के रूपान्तरण के रूप में स्वीकार किया गया है। पर दूसरी बुद्ध मूर्तियों के साथ जगन्नाथ की मूर्ति का जैसा दृश्य परिलक्षित होता है, उसके लिए कोई कारण नहीं दर्शाया गया है। और ये चिह्न किस प्रकार क्रम विवर्तन से गुजरते हुए मानवीय मूर्तियों के स्वरूप को प्राप्त हुए, इसके भी कोई धारावाहिक विवरण प्राप्त नहीं हुए हैं। इसके बारे में डॉ. हरेकृष्ण महताब ने जिन बाइस चित्रफलकों की अवतारणा की है, वह पर्याप्त रूप से सन्तोषप्रद नहीं है।

इसके अलावा श्रीयुत मनमोहन गांगुली ने अपने Orissa and Her Remains ग्रन्थ में कर्नल साइकस नामक एक अंग्रेज लेखक का उल्लेख किया है। वे बताते हैं – ''मूर्तियों की विरूपता देखने से ज्ञात होता है कि वह बौद्ध 'चैत्य' के साथ अनेकांशों में सादृश्ययुक्त हैं''। सम्भवतः ह्वेन त्सांग के विवरण को पढ़कर उनकी धारणा बलवती हुई है। फिर भी चैत्यों को मुख–चक्षु–कर के आकार देकर पूजा करने की धारणा में कहाँ तक संगति है, यह भी विचारणीय है। विशेषतः इस प्रकार के दृष्टान्त अन्यत्र न पाए जाने के कारण इसे एक सामयिक कल्पना के अतिरिक्त कुछ और नहीं कहा जा सकता।

ओड़िशा के विशिष्ट इतिहासकार श्री केदारनाथ महापात्र ने अनेक प्रमाणों के आधार पर जगन्नाथ के त्रिमूर्ति तत्व के बारे में कुछेक धारणाओं को मन में बसा कर लिखा है – ''किंवदन्ती और पुराणवर्णित गालमाधव और राजा इन्द्रद्युम्न के पुरी मन्दिर के निर्माण–वृतांत खारवेल के राजत्व की कथा की छायामात्र हैं। किंवदन्ती वर्णित नीलमाधव मूर्ति प्रस्तरखण्ड खोदित जैन त्रिरत्न मूर्ति है। यही कलिंग का जीनासन या जीनसिंहासन है। उस प्रस्तरखण्ड पर जैन या बौद्ध त्रिरत्न मूर्ति खोदित हुई थी। शबर इसी की ही पूजा करते थे। त्रिरत्न के अनुकरण में बनी हुई होने के कारण ये मूर्तियाँ हस्त–पद शून्य हैं। इनकी हस्त–पद शून्यता के लिए पौराणिकों ने परवर्तीकाल में अनेक कहानियाँ रची थीं, पर उनके प्रचण्ड प्रयास के बाद भी वे उस विषय को छिपा नहीं पाए। हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के युग में त्रिरत्न मूर्ति के बदले त्रिरत्नसदृश्य तीन हस्त–पद शून्य काष्ठ मूर्तियाँ स्थापित हुई थीं।

इस मत के अनुसार जैन त्रिरत्न से त्रिमूर्तियों के उद्‌भव होने की बात यद्यपि कही गई है, फिर भी पुराण और

किंवदन्ती को पूर्ण रूप से छोड़ नहीं दिया गया है। यही इस मत की विशेषता है।

प्रोफेसर प्रभात मुखर्जी अपने Vaishnavism in Orissa ग्रन्थ में त्रिमूर्तियों के बारे में चर्चा करते हुए एक और सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। उन्होंने लिखा है – ''गुप्तवंशी राजाओं के शासनकाल में अर्थात् ईस्वी पाँचवीं सदी में वासुदेव धर्म अर्थात् भागवत् धर्म, जो बाद में वैष्णव धर्म के रूप में अभिहित हुआ, उसे भारत भर में प्रसिद्धि मिल चुकी थी। तब वासुदेव और संकर्षण ओड़िशा में जगन्नाथ और बलराम के रूप में पूजित होने लगे। बराहमिहिर की 'वृहत संहिता' में बलदेव और कृष्ण के बीच में जिन 'एकानंशा देवी' का उल्लेख है, वे ही बाद में सुभद्रा हुईं। वे जिस प्रकार जगन्नाथ की बहन हैं, उसी प्रकार 'शक्ति और पत्नी' के रूप में गृहीत हुईं। इसलिए जगन्नाथ–बलभद्र–सुभद्रा त्रिमूर्ति भागवत धर्म सम्बन्धी कृष्ण–एकानंशा–बलदेव के अतिरिक्त और कोई नहीं है''। उन्होंने इस प्रकार त्रिमूर्तियों के वैष्णवत्व को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

पर इस मत में सुभद्रा के सम्बन्ध में जो कहा गया है, वह जिस रूप में दुर्बल है, उसी रूप में परम्परा–विरुद्ध भी है। क्योंकि इसमें 'सुभद्रा' को पहले भगिनी कह कर बाद में उनकी जगन्नाथ की पत्नी के रूप में कल्पना की गई है। यह मत भारतीय परम्परा, विशेषकर ओड़िआ परम्परा के घोर विरोधी है। हमारी परम्परा के अनुसार भगिनी को किसी तरह से पत्नी नहीं माना जा सकता और वह भी देवताओं के क्षेत्र में। स्कन्द पुराण के एक श्लोकांश ''तस्य शक्ति स्वरूपेयं भगिनी स्त्री प्रवर्तिका'' को आधार मानकर ऐसा अर्थ किया है।

हो सकता है यह एक प्रक्षिप्त अंश हो या किसी बज्रयानी कवि ने जगन्नाथ में अपने धर्म के दृष्टान्त दिखाने के अभिप्राय से इसे जोड़ दिया हो, या इसके मूल अर्थ का ही अनर्थ किया गया हो। जो भी हो, यहाँ कदापि भगिनी को पत्नी नहीं कहा गया है क्योंकि 'सुभद्रा' यदि जगन्नाथ की पत्नी रूपी होतीं, तो बलभद्र की भ्रातृवधू होंगी। भारतीय परम्परा में जेठ और भ्रातृवधू का एकत्र अवस्थान किसी भी सूत्र में विधि सम्मत नहीं है। यहाँ तक कि भ्रातृवधू जेठ की छाया तक को छूती नहीं है, वह निषिद्ध है। जहाँ ऐसी परम्परा है, वहाँ बलभद्र और सुभद्रा किस प्रकार एकत्र रह सकते हैं, समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त ओड़िआ में ''लक्ष्मी–नारायण बचनिका'' के नाम से एक गीत है, जिसे आज भी प्रौढ़–प्रवीण महिलाएँ गाया करती हैं। प्रसंग है – जब रथयात्रा होती है, तब तीनों भाई बहन 'गुण्डिचा' मन्दिर को जाते हैं और नौ दिन बाहर रहकर मन्दिर को लौटते हैं। तब महालक्ष्मी श्री मन्दिर का रतन दरवाजा क्रोधित हो कर बंद करवा देती हैं, खोलती ही नहीं। जगन्नाथ द्वार पर खड़े पत्नी को मनाते हुए कई तरह से कह लेने के पश्चात् कहते हैं –

''फेड़ फेड़ कमळिनी फेड़ गो कबाट
तम पाईं आणिछि मुँ चित्रमुखी पाट।''

अर्थात् – हे कमलिनी, किवाड़ खोलो। देखो, मैं तुम्हारे लिए चित्रमुखी पट्टवस्त्र लेकर आया हूँ। सुनकर लक्ष्मी क्या मान जातीं, बल्कि और भी बिफर कर पति का दिल दुखाने वाली बहुत सारी बातें कहती हैं। अंत में रूठ कर कहती हैं –

''छः दिनकु कंट करि न दिन रहिल

सुभद्रा कन्या कु घेनि मोते पाशोरिल।''

अर्थात् – आप छह दिनों के लिए कहकर नौ दिन रह गए। सुभद्रा कन्या को साथ लेकर मुझे ही भूल गए।

इस प्रकार के अनेक सवाल–जवाब के बाद महालक्ष्मी दरवाजा खोलती हैं और जगन्नाथ मन्दिर में प्रवेश कर पाते हैं।

इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि सुभद्रा जगन्नाथ की चाहे जो भी हों, पर पत्नी नहीं हो सकतीं। कमलिनी महालक्ष्मी उनकी पत्नी हैं। इस स्थिति में अन्ततः शारला दास, जगन्नाथ दास, यशोवन्त, आदि की रचनाओं के आधार पर बलभद्र को शिव के रूप में स्वीकार कर सुभद्रा को उनकी पत्नी, शक्ति या पार्वती के रूप में कल्पना की गई होती तो तुलनात्मक रूप में कुछ तर्कसम्मत लगता। उस स्थिति में बड़े भाई और उनकी पत्नी के साथ जगन्नाथ के बैठने में कोई असंगति नहीं रहती। ऐसा नहीं हुआ है, ऐसी बात नहीं। कोणार्क में खोदित जगन्नाथ की मूर्ति उसका दृष्टान्त है। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं हुआ है। इधर बलभद्र को रुद्र स्वरूपी कहे जाने के समय जगन्नाथ को भी भैरव (रुद्र) के स्वरूप में व्यक्त किया गया है। पर तब विमला की शक्ति के रूप में कल्पना की गई है, सुभद्रा नहीं। ''विमला भैरवी यत्र जगन्नाथस्तु भैरव''। इस प्रकार के परस्पर विरोधी विचारों के रहते स्कन्द पुराण के वाक्य को प्रामाणिक मानकर किसी सिद्धान्त पर पहुँचना कहाँ तक तर्क संगत होगा, यह भी गहरे शोध का विषय है।

इन सभी मतों के बाद जगन्नाथ तत्व के विशेषज्ञ पूजनीय नीलकण्ठ दास ने अपने Hints on the Significance and History of Jagannath शीर्षक निबन्ध में मूर्तितत्व के प्रसंग पर नये रूप में प्रकाश डाला है। उसमें अपने स्वभाव–प्रसिद्ध मौलिक चिन्तन के परिप्रकाश के साथ–साथ ऐतिहासिक और पारिवेशिक प्रमाण के साथ एक अभिनव सिद्धान्त भी सामने आता है। उन्होंने लिखा है – ईस्वी सातवीं या आठवीं सदी के समय केउँझर, सम्बलपुर, सोनपुर, पाटना, घुमसर, मयूरभंज और दूसरे सीमान्त क्षेत्र को 'उड्डियान' कहा जाता था। वहाँ अधिकतर शबर ही रहा करते थे। वे आवहमान काल से नीम की लकड़ी से निर्मित शबरी–नारायण मूर्ति की पूजा करते थे। बाद में आठवीं सदी में उड्डियान राजा इन्द्रद्युम्न, जो शून्यवादी थे, उन्होंने जगन्नाथ को सर्वजनवरार्चित और सर्व–बुद्धयं कह कर उनके बुद्धत्व का प्रतिपादन किया। तब दूसरे शबर क्षेत्र में पुरी अंतर्भुक्त होकर हो या न हो अन्ततः वहाँ के देवता जगन्नाथ के रूप में विदित थे। ह्वेन त्सांग ने जिस उड्डियान का उल्लेख किया है और नब्बे फुट ऊँचे नीम काठ से बने स्तम्भ रूप की पूजा की बात कही है, वह प्राचीन अधिवासियों के देवता शबरी–नारायण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते। इसी ने तब के पाषाण देवी–देवताओं के साथ समांतराल रूप से आत्मप्रतिष्ठा पाई थी।

कुछ समय पश्चात् अर्थात् ईस्वी सन् 1024 में प्रतिमा–विध्वंसी गजनी के महमूद ने आकर हिन्दुओं के प्रसिद्ध मन्दिर सोमनाथ समेत अनेक मन्दिरों का विध्वंस कर डाला। उसने कई मन्दिरों को लूटकर और मूर्तियों के समेत मन्दिर

भी तोड़कर हिन्दुओं के मन में भय का संचार कर दिया था, जिससे वे किसी प्रसिद्ध धर्मपीठ को न देखकर एक प्रकार से निराश एवम् निष्क्रिय जीवन बिता रहे थे।

तब ईस्वी सन् 1076 तक कलिंग अर्थात् गंजाम के गंगवंशी राजा चोड़गंग देव पुरुषोत्तम पुरी सहित सम्पूर्ण उपकुलीय क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा चुके थे। वे एक प्रतिपत्तिशाली राजा थे, जिनके मन में बड़ी–बड़ी आशाएँ थीं। उनके मन में यह धारणा जड़ीभूत थी कि जैन–उपासित जगन्नाथ को हिन्दुओं के प्रसिद्ध देवता के रूप में परिचित करा पाएँ तो यह कार्य धार्मिक क्षेत्र में एक विराट विजय–स्वरूप होगा और हिन्दू–जगत की दृष्टि उन पर जमी रहेगी। इसी विचार से उन्होंने तत्कालीन धार्मिक गुरू रामानुज को बुलाकर उन्हीं के परामर्श से कार्य साधन करने का निश्चय किया। वे पहले शैव थे, पर अचानक मन परिवर्तित कर वैष्णव धर्म की दीक्षा ली। उस समय वासुदेव पंथा के अनुसार जगन्नाथ की मूर्ति पूजा प्रचलित थी। चोड़गंग देव ने उसी परम्परा को न बिगाड़ कर लकड़ी में नई प्रतिमा का निर्माण कर देवता को और भी व्यापक और सार्वजनीन किया। फलस्वरूप वे शबर और हिन्दुओं में प्रख्यात हुए। जैन और बौद्ध प्रथाओं के अनुसार जाति–भेद शून्यता को मिलाकर उसे सर्वधर्म समन्वय पीठ के रूप में प्रसिद्धि दिलाई। उसके बाद चोड़गंग देव ने मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिए विशाल प्रासाद का निर्माण कराया। शायद उसी समय मुख और अर्द्धकर विशिष्ट शबरी–नारायण मूर्ति के बदले वैष्णव धर्म के वासुदेव–संकर्षण–सुभद्रा का निर्माण हुआ और धर्मचक्र या कलिंग जीन सुदर्शन के रूप में परिचित हुए। फलस्वरूप अष्ट्रिक शबरों के द्वारा युगों से पूजित दारु अन्त में विष्णु के अवतार के रूप में गृहीत हुए। सम्भव है, इसके सौ या दो सौ वर्षों के बाद ही लिखित स्कन्द पुराण के उत्कल खण्ड तक चोड़गंग देव का प्रसंग भी किंवदन्ती के रूप में लोक–प्रसिद्ध हो चुका था। परिणामतः इसी को आधार बनाकर पुराणों में इन्द्रद्युम्न का चरित्र आया, जो परवर्ती काल में किंवदन्तियों के कारण एक प्रकार से प्रामाणिक भी हो गया। अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि चोड़गंग पुराण वर्णित इन्द्रद्युम्न हैं और धर्मगुरु रामानुज महर्षि नारद हैं।

यह उस समय का एक अनुमानिक सिद्धान्त ही है। एतादृश अनुमान के लिए भी पर्याप्त कारण हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस पर चर्चा यहीं समाप्त हो गई, क्योंकि क्षर पूर्ण है, और अक्षर पूर्ण है। और क्षर और अक्षर के अतीत जगन्नाथ भी पूर्ण हैं।

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अर्थात् – वह परब्रह्म सभी प्रकार से पूर्ण है। यह जगत भी पूर्ण ही है, उस पूर्ण परब्रह्म से ही यह पूर्ण जगत उत्पन्न हुआ है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।